लेखक

प्रेमचंद

दो शब्द

प्रेमचन्द के साहित्य और भाषा-संबंधी निबन्धों-भाषणों आदि का एक संग्रह 'कुछ विचार' के नाम से पहले छप चुका है। लेकिन उसमें दी गयी सामग्री के अलावा भी सामग्री थी जो 'हंस' की पुरानी फ़ाइलों में दबी पड़ी थी और अब तक किसी संकलन में नहीं आयी थी। वे अधिकांश में सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं। उनमें कुछ टिप्पणियाँ बड़ी हैं और कुछ छोटी, कुछ टिप्पणियाँ एकदम स्वतन्त्र हैं और कुछ में किसी तात्कालिक साहित्यिक घटना या वादविवाद ने निमित्त का काम किया है। वह जो भी हो, सब में प्रेमचंद की आवाज़ बोल रही है और सब किसी न किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रश्न पर रोशनी डालती हैं। इसलिए इस सामग्री का संकलन करते समय हमने और सब बातों को छोड़कर अपनी दृष्टि केवल इस बात पर रक्खी है कि ऐसी एक पंक्ति भी छूटने न पाये जिससे किसी साहित्यिक प्रश्न पर रोशनी पड़ती हो या प्रेमचंद का स्पष्ट अभिमत मालूम होता हो। जो टिप्पणियाँ सामयिक विषयों को लेकर हैं, उनको लेते समय भी हमारी दृष्टि यही है कि यद्यपि उनकी सामयिकता अब कालप्रवाह में बह गयी है तथापि उनके भीतर, किसी भी निमित्त से, कही हुई मूल बात का महत्व आज भी है और आगे भी रहेगा और इसलिए उसे पाठकों तक पहुँचना चाहिए।

हमें विश्वास है कि यह नया, पूर्णतर, संकलन साहित्यिक विचारक प्रेमचंद और साहित्यकार प्रेमचन्द को और अच्छी तरह समझने में सहायक होगा।

—संकलनकर्ता

साहित्यिक समस्याएं

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ करने वालों ने—हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल; की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी

पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल चाल से हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है, तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब का सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम वियोग के आख्यानों से किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों; पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता-सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरञ्जन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृङ्गारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना और कफ़स, बर्क़ और ख़िरमन की कल्पनाएँ, विरह दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस ख़ूबी से दिखायी जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे हम और आप ख़ूब जानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृङ्गारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार-और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृङ्गारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और कद्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कद्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृङ्गारिक भावों का प्रतिबिम्ब बन गया हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा; उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरञ्जन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए

अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा सङ्कल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति निरीक्षण और

अपनी अनुभूति की तीव्रता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अति-रञ्जना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हो, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यञ्जकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनो-विज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुंचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर

नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है : उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरियाँ हैं वह मर्ज की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह सन्तुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों

को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक सा मालूम होता है क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका-सन्देह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और सन्ध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामजस्य है। बाजों का स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव

हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव, विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे सम्भव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही ये सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिये इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे? क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई

ो है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुगत में व्यक्त
:, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है। पर शायद इस
पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति
क लेखक या ग्रन्थकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन
तों को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय
व अवनति मान सकता है; इसलिए कि वह साहित्यकार अपनी कला
ो उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में
ाल मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से
समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

ति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और
: उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो,
कि किन अन्तर्वाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास
या को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

रे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की
का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे
नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों
भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं, अगर वे हममें हरकत
ी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी
ो, पर उससे हमारे सौन्दर्य प्रेम पर कोई असर न पड़ा और
ा केवल इतना ही कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोयें, तो
में कौन सी मानसिक या रुचि सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातें
जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो तो हो जाता रहा हो
के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना
। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का
। अब तो हज़रते इकबाल के साथ हम भी कहते हैं—

रम्ज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जूए।

ब ग्राशियाँ न नशीनम ज़े लज्ज़ते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम गहे बरलबे ज़ूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है, तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है, और दुःख भी। आसमान पर छायी लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमे प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है। प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है,

ये इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपे नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सु का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। ए रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल गा सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूस सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म-प्रवर्तकों ने धार्मिक नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने क सतत किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगम्बरों और धर्म प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही; पर किसी को सफलता न मिली और छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में आज प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में कदम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को

सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले। हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था, तो इनका मज़ाक उड़ाने के लिए, ग्रामवासी की देहाती वेश भूषा और तौर-तरीक़े पर हँसने के लिए। उसका शीन-क़ाफ़ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का ग़लत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है, *और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की* बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह

सुन्दरता का नाम है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए हो और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देख वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठों औ कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्र और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफ़ासत नहीं, दिखावा नह सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता क रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये!]

अथवा

चूँ मौज साज़े वजूदम ज़े. सैल बेपरवास्त,
गुमा मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग़ की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भूमंडल को

घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, बल्कि उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अकसर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है, और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मंडल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही, जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है, तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी

हैं और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और मानगत सम्पन्नता
शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी हैं; म
आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र अलम् समझी जा
है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं
वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो
फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसका विशेष अंग बन गयी हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग-रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये, मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस *मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य समझेंगे, जो समाज के पैसे से* ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे, उसे उस *विभाग* से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक

प्रश्न नहीं है, जिस पर उसमें विचार विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञानसीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज कलम काफी है। पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही सन्तोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे, जो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार है—हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम

के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये ? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दुम आज़ादम आगूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तन येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आजाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव सौन्दर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहने-वाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियम-पूर्वक चर्चा हो, निबंध पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हर एक सूबे में, हर एक जबान में, ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं, जिसमें हर एक भाषा में हम अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह

समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनायें विद्यमान हैं। भारत की हर एक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँकुए भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी, कर्माभाव ही उसका गुण था क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ पियो मौज करो', का कायल हो। ऐसा स्वच्छन्दचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखने वाले के लिए इसकी संभावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका गम दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।†

१९३६]

†लखनऊ में होने वाले प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन में सभापति आसन से दिया गया भाषण।

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं; लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता।

हाँ, है। बीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना बीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, बीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह बीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध। अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृङ्गार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृङ्गार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव रहें, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य

जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथक्ता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गयी है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महान् पुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहङ्कार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी

सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्‌वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्‌वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों-द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है, कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रंथों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेत, कुरान, इञ्जील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रहमात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा है। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव जीवन

से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामञ्जस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते!

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बान्धवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उनके एक एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के

कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदले रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अङ्गों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव चरित्र को बदल लेना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और

कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कतलाम करानेवा नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस सम आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कतलाम व बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वज़ीर ए रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तर नहीं शान्त होता और दिल्लीवालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफ़सर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न मॉंद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि जिन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज़ कुशी।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृङ्गार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कतलाम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंगलैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है। जमाने के छल प्रपञ्च और परिस्थितियों के वशीभूत

होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी कांडों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी युरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ़ सौ साल से अधिक नहीं पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है। पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर आ चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपती होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है,

जब उसमें भोग और अधिकार का भेद नहीं रहता। किसी राष्ट्र के सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर एक धन्वन्तरि के होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इन्जीनियर नहीं कहलाता। इन्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्म संयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने

को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिये केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वाञ्छनीय है जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल को आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। बाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य-रचना के लिये कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

साहित्य का आधार

साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि से उतना नहीं जितना भावों से है। बुद्धि के लिए दर्शन है, विज्ञान है, नीति है। भावों के लिए कविता है, उपन्यास है, गद्यकाव्य है।

आलोचना भी साहित्य का एक अंग मानी जाती है, इसीलिए कि वह साहित्य को अपनी सीमा के अन्दर रखने की व्यवस्था करती है। साहित्य में जब कोई ऐसी वस्तु सम्मिलित हो जाती है, जो उसके रस प्रवाह में बाधक होती है, तो वहीं साहित्य में दोष का प्रवेश हो जाता है। उसी तरह जैसे संगीत में कोई बेसुरी ध्वनि उसे दूषित कर देती है। बुद्धि और मनोभाव का भेद काल्पनिक ही समझना चाहिए। आत्मा में विचार, तुलना, निर्णय का अंश, बुद्धि और प्रेम, भक्ति, आनन्द, कृतज्ञता आदि का अंश भाव है। ईर्ष्या, दम्भ, द्वेष, मत्सर आदि मनोविकार हैं। साहित्य का इनसे इतना ही प्रयोजन है कि वह भावों को तीव्र और आनन्दवर्द्धक बनाने के लिए इनकी सहायता लेता है, उसी तरह, जैसे कोई कारीगर श्वेत को और श्वेत बनाने के लिए श्याम की सहायता लेता है। हमारे सत्य भावों का प्रकाश ही आनन्द है। असत्य भावों में तो दुःख का ही अनुभव होता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति को असत्य भावों में भी आनन्द का अनुभव हो। हिंसा करके, या किसी के धन का अपहरण करके या अपने स्वार्थ के लिए किसी का अहित करके भी कुछ लोगों को आनन्द प्राप्त होता है, लेकिन यह मन की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। चोर का प्रकाश से अंधेरा कहीं अधिक प्रिय है। इससे प्रकाश की श्रेष्ठता में कोई बाधा नहीं पड़ती। हमारा जैसा मानसिक संगठन है,

उसमें असत्य भावों के प्रति घृणामय दया ही का उदय होता है। जिन भावों द्वारा हम अपने को दूसरों में मिला सकते हैं, वही सत्य भाव हैं, प्रेम हमें अन्य वस्तुओं से मिलाता है, अहङ्कार पृथक् करता है। जिसमें अहङ्कार की मात्रा अधिक है वह दूसरों से कैसे मिलेगा? अतएव प्रेम सत्य भाव है, अहङ्कार असत्य भाव है। प्रकृति से मेल रखने में ही जीवन है। जिसके प्रेम की परिधि जितनी ही विस्तृत है, उसका जीवन उतना ही महान है।

जब साहित्य की सृष्टि भावोत्कर्ष द्वारा होती है, तो यह अनिवार्य है कि उसका कोई आधार हो। हमारे अन्तःकरण का सामञ्जस्य जब तक बाहर के पदार्थों या वस्तुओं या प्राणियों से न होगा, जागृति हो ही नहीं सकती। भक्ति करने के लिए कोई प्रत्यक्ष वस्तु चाहिए। दया करने के लिए भी किसी पात्र की आवश्यकता है। धैर्य और साहस के लिए भी किसी सहारे की जरूरत है। तात्पर्य यह है कि हमारे भावों को जगाने के लिए उनका बाहर की वस्तुओं से सामञ्जस्य होना चाहिए। अगर बाह्य प्रकृति का हमारे ऊपर कोई असर न पड़े, अगर हम किसी को पुत्र शोक में विलाप करते देखकर आँसू की चार बूँदें नहीं गिरा सकते, अगर हम किसी आनन्दोत्सव में मिलकर आनन्दित नहीं हो सकते, तो यह समझना चाहिए कि हम निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। उस दशा के लिए साहित्य का कोई मूल्य नहीं। साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुख-दुःख से सुखी या दुखी हो सके और दूसरों में सुख या दुःख पैदा कर सके। स्वयं दुःख अनुभव कर लेना काफी नहीं है। कलाकार में उसे प्रकट करने का सामर्थ्य होना चाहिए। लेकिन परिस्थितियाँ मनुष्य को भिन्न दिशाओं में डालती हैं। मनुष्य मात्र में भावों की समानता होते हुए भी परिस्थितियों में भेद होता ही है। हमें तो मिठास से काम है, चाहे वह ऊख में मिले या खजूर में या चुकन्दर में। अगर हम किसानों में रहते हैं या हमें उनके साथ रहने के अवसर मिले

हैं, तो स्वभावतः हम उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं और उससे उसी मात्रा में प्रभावित होते हैं जितनी हमारे भाव में गहराई है। इसी तरह अन्य परिस्थितियों को भी समझना चाहिए। अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि अमुक प्राणी किसानों का, या मजदूरों का या किसी आन्दोलन का प्रोपागेंडा करता है, तो यह अन्याय है। साहित्य और प्रोपागेंडा में क्या अन्तर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपागेंडे में अगर आत्म विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवा नहीं करती। साहित्य शीतल, मन्द समीर है, जो सभी को शीतल और आनंदित करती है। प्रोपागेंडा आँधी है, जो आँखों में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखाड़ उखाड़ फेंकती है, और झोंपड़े तथा महल दोनों को ही हिला देती है। वह रस-विहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौन्दर्य और रस भर सके, तो वह प्रोपागेंडा की चीज न होकर सद्‌साहित्य की वस्तु बन जाती है। "अंकिल टॉम्स केबिन" दास प्रथा के विरुद्ध प्रोपागेंडा है, लेकिन कैसा प्रोपागेंडा है! जिसके एक एक शब्द में रस भरा हुआ है। इसलिए वह प्रोपागेंडा की चीज नहीं रहा। बर्नार्ड शा के ड्रामे, वेल्स के उपन्यास, गाल्सवर्दी के ड्रामे और उपन्यास, डिकेन्स, मेरी कारेली, रोमां रोलां, टाल्स्टाय, चेस्टरटन, डास्टावेस्की, मैक्सिम गोर्की, सिंक्लेयर, कहाँ तक गिनायें। इन सभी की रचनाओं में प्रोपागेंडा और साहित्य का सम्मिश्रण है। जितना शुष्क विषय-प्रतिपादन है वह प्रोपागेंडा है, जितनी सौन्दर्य की अनुभूति है, वह सच्चा साहित्य है। हम इसलिए किसी कलाकार से जवाब तलब नहीं कर सकते कि वह अमुक प्रसंग से ही क्यों अनुराग रखता है। यह उसकी रुचि या परिस्थितियों से पैदा हुई परवशता है। हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक ही कसौटी है : वह हमें सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नहीं? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नहीं ले जाता तो प्रोपागेंडा या उससे भी निकृष्ट है।

हम अक्सर किसी लेखक की आलोचना करते समय अपनी रुचि से पराभूत हो जाते हैं। ओह, इस लेखक की रचनायें कौड़ी काम की नहीं, यह तो प्रोपागेन्डिस्ट है, यह जो कुछ लिखता है, किसी उद्देश्य से लिखता है, इसके यहाँ विचारों का दारिद्र्य है। इसकी रचनाओं में स्वानुभूत दर्शन नहीं, इत्यादि। हमें किसी लेखक के विषय में अपनी राय रखने का अधिकार है, इसी तरह औरों को भी है, लेकिन सद्साहित्य की परख वही है जिसका हम उल्लेख कर आये हैं। उसके सिवा कोई दूसरी कसौटी हो ही नहीं सकती। लेखक का एक एक शब्द दर्शन में डूबा हो, एक एक वाक्य में विचार भरे हों, लेकिन उसे हम उस वक्त तक सद्साहित्य नहीं कह सकते, जब तक उसमें रस का स्रोत न बहता हो, उसमें भावों का उत्कर्ष न हो, वह हमें सत्य की ओर न ले जाता हो, अर्थात्...बाह्य प्रकृति से हमारा मेल न कराता हो। केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रन्थ हो सकता है, सरस साहित्य नहीं हो सकता। जिस तरह किसी आन्दोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपागेंडा है, उसी तरह किसी तात्विक विचार या अनुभूत दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपागेंडा है। साहित्य जहाँ रसों से पृथक् हुआ, वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और प्रोपागेंडा के क्षेत्र में जा पहुँचता है। आस्कर वाइल्ड या शा आदि की रचनायें जहाँ तक विचार प्रधान हों, वहाँ तक रसहीन हैं। हम रामायण को इसलिए सद्साहित्य नहीं समझते कि उसमें विचार या दर्शन भरा हुआ है, बल्कि इसलिए कि उसका एक एक अक्षर सौन्दर्य के रस में डूबा हुआ है, इसलिए कि उसमें त्याग और प्रेम और बन्धुत्व और मैत्री और साहस आदि मनोभावों की पूर्णता का रूप दिखाने वाले चरित्र हैं। हमारी आत्मा अपने अन्दर जिस अपूर्णता का अनुभव करती है, उसकी पूर्णता को पाकर वह मानो अपने को पा जाती है और यही उसके आनन्द की चरम सीमा है।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि बहुधा एक लेखक कलम से जो चीज़ प्रोपागेंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक कलम से सद्साहित्य बन जाती है। बहुत कुछ लेखक के व्यक्ति पर मुनहसर है। हम जो कुछ लिखते हैं, यदि उसमें रहते भी हैं, हमारा शुष्क विचार भी अपने अन्दर आत्म प्रकाश का सन्देश रख है और पाठक को उसमें आनन्द की प्राप्ति होती है। वह श्रद्धा हममें है, मानो अपना कुछ अंश हमारे लेखों में भी डाल देती है एक ऐसा लेखक जो विश्व बन्धुत्व की दुहाई देता हो, पर तुच्छ स्व के लिये लड़ने पर कमर कस लेता हो, कभी अपने ऊँचे आदर्श सत्यता से हमें प्रभावित नहीं कर सकता। उसकी रचना में तो विश्व बन्धुत्व की गन्ध आते ही हम ऊब जाते हैं, हमें उसमें कृत्रिमता गन्ध आती है। और पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, लेखक बनावट या दिखावा या प्रशंसा की लालसा को क्षमा नहीं कर सकता हाँ, अगर उसे लेखक में कुछ श्रद्धा है, तो वह उसके दर्शन, विचार, उ देश, शिक्षा, सभी असाहित्यिक प्रसंगों में सौन्दर्य का आभास पाता है अतएव बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। लेकिन ह लेखक से परिचित हों या न हों, अगर वह सौन्दर्य की सृष्टि कर सकत है, तो हम उसकी रचना में आनन्द प्राप्त करने से अपने को रोक नह सकते। साहित्य का आधार भावों का सौन्दर्य है, इससे परे जो कुछ है वह साहित्य नहीं कहा जा सकता।

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म ग्रन्थों में जो दृष्टान्त भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं; पर कितनी उच्च-कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रंथों में जन शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझायी जातीं? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरञ्जन न होता था। सद्ग्रंथों के रूपकों और बाइबिल के Parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है, कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक की बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी किस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गप-शप भी शामिल कर दी जाती हैं। एक अंगरेजी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनटों में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और तो और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाकिस समझी जाती है, जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्मग्रंथों ही में नहीं, साहित्य-ग्रंथों में भी प्रचलित था। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण

है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक शृङ्खला में बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पचीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गयी हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं है, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है; किन्तु उसमें किसी प्रकार का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गयी है। उसमें सभी रसों का समावेश है, पर अद्भुत रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत रस में उपदेश की गुञ्जाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश में शुक बहत्तरी के ढङ्ग की कथाएँ रची गयीं, जिनमें स्त्रियों की बेवफ़ाई का राग अलापा गया है। यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढङ्ग निकाला। उन्होंने पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजाओं के कीर्तिगान की। हाँ, शेख़सादी ने फ़ारसी में गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रखी। यह उपदेश कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसके सुगन्ध से रञ्जित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति हुई; और तभी से समस्त-साहित्य में इसका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है; पर मेरे विचार में फ्रांस और रूस के साहित्य में जितनी उच्चकोटि की गल्पें पायी जाती हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेज़ी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किपलिंग, शार्लट ब्रान्टी आदि ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ गी द मोपासाँ, बालज़क या पियेर लोटी के टक्कर की नहीं। फ्रान्सीसी कहा-नियों में सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त

मोपासाँ और बालज़क ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यात्मिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझायी गयी हैं। रूस में सबसे उत्तम कहानियाँ काउंट टालस्टाय की हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं, जो प्राचीन काल के दृष्टान्तों की कोटि की हैं। चेकाफ़ ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं, और यारप में उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमें रूस के विलास प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। डास्टावेस्की ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी हैं; पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गयी है। भारत में बंकिमचन्द्र और डाक्टर रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमें से कितनी ही बहुत उच्च-कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है? हाँ, है और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनायें और चरित्र एक ही केन्द्र पर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुञ्जाइश नहीं, बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो उतना ज़ोर दिखाइये, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफ़िल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिये; (भाषा सरस होनी चाहिए) ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफ़िल के सामने से चले जायँगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को

स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास धन और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होत आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके प धन है, न समय। यहाँ तो सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है। यह ध्रुपद की तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से प कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभाव जानना चाहते हैं कि यह कौन है। पहले उससे परिचय करना आ समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं कोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अँग्रेजी आख्यायि की नकल है। इनसे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो है। योरपवालों की देखा-देखी यन्त्रों-द्वारा, डायरी या टिप्पणियों भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर की है; पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है। के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिए किसी अन्त की भी जरूर समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मन के लिए पढ़ते हैं। आपको एक लेडी लन्दन के किसी होटल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। ल अपना दूसरा वर ठीक कर रखा है। माँ बिगड़कर कहती है, अपना धन न दूँगी। कन्या कहती है, मुझे इसकी परवा नहीं। में माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निरा दशा में बैठी है कि उसका अपना पसन्द किया युवक आता है। में बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन

विवाह करने पर राजी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिनों तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी खबर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल जाती है। बस, कहानी समाप्त कर दी जाती है। क्योंकि realists अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता; बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि हास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन जो असुन्दर है, इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहङ्कार नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलें और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है!' उ पढ़कर मन में ग्लानि होती है, आनन्द नहीं। और जो वस्तु आन नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है, वहीं सत्य है साहित्य काल्पनिक वस्तु है; पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदा करना, और इसीलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलो-

चना किया करता है—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है; आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत-कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध-जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबिल में भी दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं के द्वारा ही धर्म के तत्व समझाये गये हैं। सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते—जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो

जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका
और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है। इतना ही
बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं, जि
साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें इम
में या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के
स्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह भी कारण हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उ
समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा
चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता, जो
मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है और अगर
यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है! कला के
यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी ख
यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका मा
दण्ड भी जीवन के मान दण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमा
अन्त उस समय हो जाता है जब यह वांछनीय नहीं होता। जीवन कि
का दायी नहीं है; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में को
क्रम, कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता—कम से कम मनुष्य के लिए व
अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है औ
परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जह
वह हमारी मानवी न्याय बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ
पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में
अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा;
दुख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र
मर नहीं सकता, जब तक कि मानव-न्यायबुद्धि उसकी मौत न माँगे।
स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब

ना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, जिस पर यथार्थ का आवरण
हा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों
की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है—कम-से-
कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का है ही। अनेक कारणों
से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक
गयी और हमने प्राचीन से जौ भर भी इधर-उधर हटना निषिद्ध समझ
लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका
उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव, काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी
हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी
अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें कुछ नवीनता न लायी जाय।
एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब
जाता है और वह कोई नयी चीज चाहता है—चाहे वह उतनी सुन्दर
और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या
हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति
करता रहा—उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से
चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता तथा असन्तोष
की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने
क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता
के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और
है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-
साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परि-
वर्तन न हुआ हो; पर शैली तो बिलकुल ही बदल गयी। अलिफलैला
उस वक्त का आदर्श था—उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूह

जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका
और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है। इतना ही न
बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोने या हँसते देखे जाते हैं, जिन
साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मश
में या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के म
स्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह भी कारण हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उ
समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा
चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता, जो
मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है और अगर
यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है! कला के
यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी ख
यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका म
दण्ड भी जीवन के मापदण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हम
अन्त उस समय हो जाता है जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन कि
का दासी नहीं है; उसके सुख दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में क
क्रम, कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता—कम से कम मनुष्य के लिए
अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है
परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और
हमारी मानवी न्याय बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता
हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। क
सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना
ता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई
तक कि मानव-न्यायबुद्धि उसकी मौत न
नता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए

देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है—कम से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गयी और हमने प्राचीन से जौ-भर भी इधर-उधर हटना निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव, काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें कुछ नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नयी चीज चाहता है—चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति करता रहा—उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता तथा असन्तोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो; पर शैली तो बिलकुल ही बदल गयी। अलिफलैला उस वक्त का आदर्श था—उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था—पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य-

रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास क उदय हुआ, जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्च-कोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं। किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम में समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अङ्गों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना गलत न होगा कि जैसे किसी जमाने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालजक, मोपासाँ, चेखाफ़, टॉल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पचीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों—यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह जमाना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने खयाल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता, अगर कुछ मनोरञ्जन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घंटे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरञ्जन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है। हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक मनोरञ्जन हो जाय—इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनंद हम दो घंटों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी

हैं। अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे; और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरञ्जन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से—मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति में से—एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा में दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंककर तैयार हो जाता है, उसकी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका

देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले। कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और इतने आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी कहानी-लेखकों में विषय, दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है—कहानी जीवन

से बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रभावमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो सम्भाषणों में एक दो शब्दों से ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं, जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं, पूरे वाक्य की जरूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्व ही नहीं रहा। उनका महत्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है—उसी तरह, जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

कहानी-कला : ३

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हर एक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी माता या बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किस तरह सब-कुछ भूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने, मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये; पर वे कहानियाँ अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हर एक जबान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय में हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा; लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्सागर,' 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ़-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम, अपने बाप-दादा की भाँति ही, आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा ख्याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ़-लैला की कथाओं का आनन्द उठाती

है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती। और अगर काउंट टॉलस्टॉय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ-लैला के सामने स्वयं टॉलस्टॉय के 'वार ऐंड पीस' और ह्यूगो के 'ले मिज़रेबुल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग-रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियाँ और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायँगे। जन-रुचि परज और बिहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसन्द करती है। बिरहों और ग्रामगीतों में बहुधा बड़े ऊँचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएँ बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव हृदय के साँचे में पड़कर संस्कृत हो गयी हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है; पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका एवं रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का सन्देश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोड़े से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पावें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविक से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझनेवाले थोड़े से कलाविद् ही रह जाते हैं; उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा कहानियाँ अपने घटना वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं; पर उनमें उस रस की कमी है जो शिक्षित रुचि साहित्य में चाहती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गयी है। हम हर एक विषय की भाँति साहित्य में भी स्वाभाविकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ के काँटे पर तौलते हैं और जौ भर भी इधर उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। उसके एक एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते हैं कि किन मनोभावों से प्रेरित होकर उसने यह काम किया; अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अङ्ग है।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिलकुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था; लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये

भाव जितने व्यापक और गहरे तथा अनुभव-पूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत,' 'मुक्तिमार्ग', 'पञ्च-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गयी है।

यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनरञ्जन है; पर साहित्यिक मनोरञ्जन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हममें सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जाग्रत हों। वास्तव में मानवीय आत्मा की यह वह चेष्टा है, जो उसके मन में अपने-आपको पूर्णरूप में देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता है, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनन्त प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं; परन्तु यदि स्वार्थ, अहङ्कार और ईर्षा की ये बाधाएँ न होतीं, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है; पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अङ्गों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिए, उसमें कहानियों ही की प्रधानता होगी। हाँ, जो पत्र किसी विशेष नीति या उद्देश्य से निकाले जाते हैं उनमें कहानियों का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियाँ पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नहीं मिटती, जो इच्छा-पूर्ण भोजन चाहती है पर फलों और मिठाइयों की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियों से तृप्त हो जाती है। हमारा ख्याल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण, संसार के प्राणियों को एक दूसरे से जितना निकट कर दिया है, उनमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करनेवाले प्राणियों से बिलकुल अपरिचित रहते हैं, लेकिन मोपासाँ, अनातोल फ्रान्स, चेखोव और टॉलस्टोय की कहानियाँ पढ़कर हमने फ्रान्स और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों, द्वीपों और पहाड़ों को लाँघता हुआ फ्रान्स और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहाँ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान और मजदूर एवं विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ट परिचय हो।

हिन्दी में बीस-पचीस साल पहले कहानियों की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बँगला या अँगरेजी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। परन्तु आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ प्रतिमास न छपती हों। कहानियों के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों का पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन में हम कभी कोई किस्सा पढ़ते पकड़ लिये जाते थे,

तो कड़ी डाँट पड़ती थी। यह ख्याल किया जाता था कि किस्सों से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। और उन 'किसाना अजायब' और 'शुक-बहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनों में ऐसा ख्याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त कहानियाँ कहीं स्कूल कैरिकुलम में रख दी जातीं, तो शायद पिताओं का एक डेपुटेशन इसके विरोध में शिक्षा विभाग के अध्यक्ष की सेवा में पहुँचता। आज छोटे बड़े सभी क्लासों में कहानियाँ पढ़ायी जाती हैं और परीक्षाओं में उन पर प्रश्न किये जाते हैं। यह मान लिया गया है कि सांस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि कहानी कोरी गप नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हजार बरस पहले यूनान के विख्यात फिलासफर अफलातूं ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना में मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य हैं, जितने आज से पाँच हजार साल पहले थे, हालाँकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धान्त, जो एक जमाने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गये हैं; पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है, कि कहानी में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है; और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं। गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है; पर किसी दशा में भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन सत्य कहलाता है।

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभ उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वा की रायें नहीं मिलती। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लो सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्या का मूल तत्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलती, उसी भाँति आद मियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो ! लेकिन इस सन्तान प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता

है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता है। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश मात्र भी विचार नहीं करता—जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह सन्तान प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है, जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है, जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है—उसके लिए कुछ छोड़ जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट कमी बेशी कुछ न करनी चाहिये, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गये हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम

बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनको नेक का फल उलटा मिलता है, और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें

किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों!

अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है; लेकिन काँइयेपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हों—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन

रखने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरञ्जन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरञ्जन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो; ईर्षा और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित्

अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आज-कल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ले मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए उच्च कोटि की साहित्यिक कृतियाँ हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनायी देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचार-शील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंगलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिक-विक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेंस के कान में

आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश—सबकी रचना हो गयी। 'साइलस मार्नर' भी अँगरेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गयी थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुन्दर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम० ऐंड्रूज़ हिम' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इञ्जीनियर साहब ने रात को अपना जीवन-कथा सुनायी थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घण्टों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिये या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, 'मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हाल केन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम

रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। मेटरलिंक बेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोनावोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फ़ारसी का एक बृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फैज़ी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में सन्देह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम-से-कम २०,००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति' का बीजाङ्कुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं, जिन पर हजारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न-जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गयी हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गयी है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए।

'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्म-स्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती—कलम उठाया और लिखने लगे। लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गन्ध से, किसी की श्रवण से। किसी को नये, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नयी-नयी कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुज़र जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज़ के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बन्ध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहता है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हें अयोग्य समझकर विदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह

उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा विभाग में नवीनता तो अवश्य है पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी; पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नया नीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोट बुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजों को वे अलग अलग खानों में संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन आरम्भकाल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिये, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना—

'अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुंदर बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, होंठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुई।

'सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा, चमकीला, लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से भाप उड़ती हुई।'

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो आपने कहा, 'चारों तरफ। अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनायी जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ

सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चर्चा छिड़ गयी कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।'

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिये। वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे मिल ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाक़ी रहा? यह सत्य है। लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े, कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी देखिये—

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पन्दन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अँग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रान्स के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ

मिला? (फ्रान्स रोमन कैथॉलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखायी पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिसपर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इञ्च से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है।'

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं—

'कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अन्त में रहस्य खुल जाय। लेकिन हरएक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है *कि कहानी के अन्त में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र* न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मजा है जबकि वह चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।'

उपन्यास कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनको वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी

चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य का चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत सी अनावश्यक बातों के आ जाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं; केवल मुख्य बातें स्मृति पर अङ्कित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र सन्ध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है!

श्याम—हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े!

राम—कहो क्या रङ्ग-ढङ्ग है! तुम तो भले ईद के चाँद हो गये।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गये।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ़!

श्याम—हाँ, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी मोटी बातें,बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।'

—

उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरी ललित कलाओं से कहीं ज्यादा विस्तृत है। वाल्टर बेसेंट ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किये हैं—

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुञ्जाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यास का विषय विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलनेवालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन

नहीं है, जितना एक लम्बे चौड़े मार्गहीन मैदान में चलने के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन शक्ति है। अगर इसका अभाव है, तो वह अपने काम में कभी सफल नहीं हो स उसमें और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना शक्ति की प्र अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकत जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की क तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कित विद्वान क्यों न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और डालनेवाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है; लेकिन की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर जीती-जागती तसवीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को हमें यह ख्याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और स्पादक होनी चाहिए; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम श गोरखधन्धा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इस कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय का लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर दे हम ख्याल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी है सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय जनता उन्हीं उपन्यासों का आदर का स्थान देती है जिनकी उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को

वैचित्र्य से रोचक बनाये; लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जायगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के उस आनन्द में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था; इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। सम्प्रतिकालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों का खोलना होता है; अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाये। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुञ्जाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि

यह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मी
का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में सर्वांगीण जागरित
होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न
जाय। हमारे हृदय के अन्तरतम भाव साधारण दशाओं में आन्दो
नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है
हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावों की गहराई तक पहुँच ज
अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो
घटना से ज्यादा प्रभाव डालनेवाली और कौन घटना हो सकती है
शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दरबार में आकर खड़ी होती है और
उसे न पहचान कर उसकी उपेक्षा करता है! खेद है कि आ
के उपन्यासों में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत कम मसाला
है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावों का प्रदर्शन नहीं क
हम आये दिन की साधारण बातों ही में उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मा
दुर्बलताओं और कुवासनाओं का, कमजोरियों और अपकीर्तियों
विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं; मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि
लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है, वह कभी उस कल
की महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम में एक मनु
आन्तरिक दशा को, सत् और असत् के संघर्ष और अन्त में स
विजय को मार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का
आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही
कर दें। अन्धकार में मनुष्य को अन्धकार के सिवा और सूझ ह
सकता है! बेशक, चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी
कभी आवश्यक होता है। लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो
मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकत
किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते बल्कि

और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ़ सी आ गयी है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासों में क्यों इतना आनन्द आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगों को यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शान्ति के युग में ऐसी घटनाओं का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को सन्तुष्ट कर सकें—जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं, वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनन्द नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गयी। अगर मेरा अनुमान गलत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य में

पशु-वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़नेवालों पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त, अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़नेवाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अन्त में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं; लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह वही अन्त में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्—पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अङ्कित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते,

उसी भाँति उपन्यास में भी न होना चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं; लेकिन असली अन्तर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में करायी जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित-समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं। लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। पर ग्रामीण बातचीत हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रच यता के मनोभाव का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रँगी हुई नजर आयेंगी। लहरी आनन्दी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हें जगत्-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को जिन्दादिल न बना सकेगा। 'आजाद-कथा' को उठा लीजिये, तुरन्त मालूम हो जायगा कि लेखक हँसने हँसानेवाला जीव है जो जीवन को गम्भीर विचार के

योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वह शैली शिथिल हो गयी है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं—जो जीवन में लद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने जिन्दगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दों पर ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और आनन्द-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हें केवल लेखक की कल्पनाओं से सन्तोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है, जो अनुभूति पर खड़े हों।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा। हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है; पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अन्त स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वाँग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं; लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वाँग से सन्तुष्ट न होगा।

यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो।

अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देश-भक्त का, या किसी बड़े आदमी का; पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

साहित्य में बुद्धिवाद

साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् में श्री लक्ष्मीनारायण मि
इस विषय पर एक सारगर्भित भाषण दिया, जिसमें विचार करने
बहुत कुछ सामग्री है। उसमें अधिकांश जो कुछ कहा गया है, उ
तो किसी को इनकार न होगा। जब हमें कदम कदम पर बुद्धि की जरू
पड़ती है, और बुद्धि को ताक पर रखकर हम एक कदम भी आगे न
रख सकते, तो साहित्य क्योंकर इसकी उपेक्षा कर सकता है। लेकि
जीवन के हरेक व्यापार को अगर बुद्धिवाद की ऐनक लगाकर ही दे
तो शायद जीवन दूभर हो जाय। भावुकता को सीधे रास्ते पर रखने
लिए बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है, नहीं तो आदमी संकटों में प
जाय, इसी तरह बुद्धि पर भी मनोभावों का नियन्त्रण रहना जरूरी है
नहीं तो आदमी जानवर हो जाय, बल्कि राक्षस हो जाय। बुद्धिवा
हरेक चीज को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। बहुत ठीक। अग
साहित्य का जीवन में कोई उपयोग न हो तो वह व्यर्थ की चीज़ है। व
उपयोग इसके सिवा क्या हो सकता है, कि वह जीवन को ज्यादा सुखी,
ज्यादा सफल बनाए, जीवन की समस्याओं को सुलझाने में मदद दे या
जैनेन्द्र जी के शब्दों में प्रकृति और जीवन में सामन्जस्य उत्पन्न करे।
कोरी भावुकता यह सामन्जस्य नहीं पैदा कर सकती, तो शायद कोरा
बुद्धिवाद भी नहीं कर सकता। दोनों का समन्वय होने से ही वह एकता
पैदा हो सकती है। सच पूछिए, तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए
[illegible] ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद को यहाँ

इतनी ही जरूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाये। वैराग्यवाद और दुःखवाद और निराशावाद, ये सब जीवन-बल को कम करने वाली चीजें हैं और साहित्य पर इनका आधिपत्य हो जाना जीवन को दुर्बल कर देगा। लेकिन उसी तरह बुद्धिवाद और तर्कवाद और उपयोगितावाद भी जीवन को दुर्बल कर देगा, अगर उसे बेलगाम दौड़ने दिया गया। बिजली की हमें इतनी ही जरूरत है कि मशीन चलती रहे; अगर करेंट ज्यादा तेज हो गया तो घातक हो जायेगा। दाल में घी जरूरी चीज़ है। एक चम्मच और पड़ जाय तो और भी अच्छा, लेकिन घी पीकर तो हम नहीं रह सकते। मथुरा में कुछ ऐसे जन्तु पाये जाते हैं जो घी के लोंदे खा जाते हैं; लेकिन उसमें भी वे खूब शक्कर मिला लेते हैं वरना उनकी भस्मक जठराग्नि भी जवाब दे जाय। बुद्धिवाद का आचार्य बर्नार्ड शा भी तो अपने नाटकों में हास्य और व्यंग्य और चुटकियों की चाशनी मिलाता है। वह जबान से चाहे कितना ही बुद्धि-वाद की हाँक लगाये; मगर भावुकता उसके पोर पोर मे भरी हुई है। वर्ना वह क्यों रोल्स राइस कार पर सवार होता ? क्या मामूली बेबी आस्टिन से उसका काम नहीं चल सकता था ? उसके बुद्धिवाद पर मिसेज़ शा की भावुकता का नियन्त्रण न होता तो शायद आज वह पागलखाने की हवा खाता होता। मनुष्य में न केवल बुद्धि है, न केवल भावुकता। वह इन दोनों का सम्मिश्रण है, इसलिए आपके साहित्य में भी इन दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। बुद्धिवाद तो कहेगा कि रस एक व्यर्थ की चीज है। प्रेम और वियोग, क्रोध और मोह, दया और शील यह सब उसकी नजर में हेय हैं। वह तो केवल न्याय और विचार को ही जीवन का सर्वस्व समझता है। उसका मन्त्र लेकर हमारी मानवता इतनी क्षीण हो जायेगी कि हवा से उड़ जाय। एक उदाहरण लीजिए।

एक मुसाफिर को डाकुओं ने घेर लिया है। अगर संसार में समष्टिवाद का राज हो गया है, तो निश्चय रूप से डाकू न होंगे।

तो एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक स्त्री को कुछ लम्पटों ने घेर लिया है—समष्टिवाद भी लम्पटता का अन्त नहीं कर सकता—उसी वक्त एक मुसाफिर उधर से आ निकलता है। भावुकता कहती है—भगा दो इन बदमाशों को और इस देवी का उद्धार करो। बुद्धिवाद कहेगा, मैं अकेला इन पाँच आदमियों का क्या सामना करूँगा। व्यर्थ में मेरी जान भी जायेगी। लम्पट लोग स्त्री की हत्या न करेंगे लेकिन मेरा तो खून ही पी जायेंगे। यहाँ भावुकता ही मानवता है। बुद्धिवाद कायरता है, दुर्बलता है। प्रेम के आडम्बरों को निकाल दीजिए, तो वह केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा है। मगर शायद बाबा आदम ने भी बीबी हौवा से सीधे सीधे यह न कहा होगा—मैं तुमसे सन्तानोत्पत्ति करना चाहता हूँ; इसलिए तुम मेरे पास आओ! उन्हें भी कुछ-न-कुछ नाजबरदारी करनी पड़ी होगी। अगर ब्रजभाषा वालों का रति-वर्णन धृणास्पद है, तो बुद्धिवाद का यह लक्कड़तोड़ अनुरोध भी नंगी बर्बरता है। फिर उस बुद्धिवाद को लिखकर ही क्या कीजिए जब कोई उसे पढ़े ही नहीं। अभी किसी बुद्धिवादी साहित्यिक डिक्टेटर का राज तो है नहीं, कि वह छायावाद को दफा १२४ के अन्दर ले ले। आप जनता तक तभी पहुँच सकते हैं, जब आप उनके मनोभावों को स्पर्श कर सकें। आपके नाटक या कहानी में अगर भावुकता के लिए रस नहीं है, केवल मस्तिष्क के लिए सूखा बुद्धिवाद है, तो नाटककार और नटों के सिवा हॉल में कोई दर्शक न होगा। हँसना और रोना भी तो भावुकता ही है। बुद्धि कहती रोए!' रोने से मुर्दा जी न उठेगा। और हँसे भी क्यों? जो चीज हाथ आ गई है वह हँसने से ज्यादा कीमती न हो जायगी। ऐसा सूखा साहित्य अगर अमृत भी हो तो पड़ा पड़ा भाप बनकर उड़ जायेगा। साहित्य में जीवन-रस देने की क्षमता होनी चाहिये। यहाँ तक तो हम आपके साथ हैं; लेकिन बुद्धिवाद ही यह जीवन-रस दे सकता है, मनोभावों द्वारा यह शक्ति मिल ही नहीं सकती, यह हम नहीं मानते। आदर्श साहित्य वही है जिसमें बुद्धि और मनोभाव दोनों का समन्वय

सम्मिश्रण हो। बुद्धि के लिए दर्शन है, शास्त्र है, विज्ञान है, और अनन्त ज्ञान क्षेत्र है। क्या वह साहित्य और कला में भी मनोभावों-मनोवेगों को नहीं रहने देना चाहता ?।

जड़वाद और आत्मवाद

विद्वानों की दुनिया में आजकल आस्तिक और नास्तिक का पुराना झगड़ा फिर उठ खड़ा हुआ है। यह झगड़ा कभी शान्ति होने वाला तो है नहीं, हाँ, उसके रूप बदलते रहते हैं। आज के पचास साल पहले, जब विज्ञान ने इतनी उन्नति न की थी, और संसार में बिजली और भाप और भाति भाति के यन्त्रों की सृष्टि होने लगी, तो स्वभावतः मनुष्य को अपने बल और बुद्धि पर गर्व होने लगा, और अनन्त से जो अनीश्वरवाद या जड़वाद चला आ रहा है, उसे बहुत कुछ पुष्टि मिली। विद्वानों ने हमेशा ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह किया है। ज प्रकृति का कोई रहस्य उनकी छोटी सी अक्ल के सुलझाये नहीं सुलझत तो उन्हें ईश्वर की याद आती और ज्यों ही विज्ञान ने एक कदम औ आगे बढ़ाया और उस रहस्य को सुलझा दिया, तो विद्वानों क अभिमानी मन तुरन्त ईश्वर से बगावत कर बैठता है, या उनकी वह पुरानी बगावत फिर ताजी हो जाती है। जब भार और बिजली जैसी चीजें आदमी ने बना डालीं, तो वह यह क्यों न समझ ले कि यह छोटी सी पृथ्वी और सूर्य आदि भी इतने महान विषय नहीं हैं, जिनके लिए ईश्वर की जरूरत माननी पड़े। जड़वाद ने तुरन्त दिमाग लड़ाया और सृष्टि की समस्या हल कर डाली। परमाणुवाद का झंडा लहराने लगा। प्रायः सभी विद्वानों ने उस झंडे के सामने सिर झुका दिया।

लेकिन इधर विज्ञान ने जो अक्ल को चौंधिया देने वाली उन्नति की है, और मनुष्य को मालूम हुआ है कि यह नए ईश्वर के करिश्मे

सृष्टि की महानता के सामने कोई चीज़ नहीं है, और इस गहराई में जितना ही उतरते हैं, उतनी ही उसकी अनन्तता और विशालता भी गहरी हो जाती है। तब से विद्वानों का अभिमान कुछ ठंडा पड़ने लगा है। उन्हें स्पष्ट नजर आने लगा है कि जड़वाद से सृष्टि की सारी गुत्थियाँ नहीं सुलझतीं, बल्कि जितनी सुलझाना चाहो, उतनी ही और उलझती जाती हैं। तो कम से कम कुछ दिनों के लिए तो जड़वाद का झंडा नीचा हो ही गया। जब आइंस्टीन से कोई बड़ा विद्वान आकर आइंस्टीन के सिद्धान्त को मिथ्या सिद्ध कर देगा, तो सम्भव है, जड़वाद फिर ताल ठोंकने लगे। और यह झगड़ा हमेशा चलता रहेगा। जिन्हें इन झगड़ों में पड़े रहने से सारी दैहिक और पारिवारिक जरूरतें पूरी हो जातीं हैं, उनके लिए बड़ा अच्छा मशगला है। हमारे लिए ईश्वर का अस्तित्व मनवाने को अकेली यह पृथ्वी काफ़ी थी। आजकल का खगोल जब तीन करोड़ ऐसे ही विशाल सौर परिवारों का पता लगा चुका और बीस लाख सूर्य तो दूरबीनों से नजर आने लगे हैं और यह अनन्त पहले से कई लाख या करोड़ गुना अनन्त हो गया है, और एलेक्ट्रान और तरह तरह की अद्भुत किरणें हमारे सामने आ गई हैं, तो हमारी अक्ल का घनचक्कर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। जो लोग इस पुरानी सृष्टि को समीप समझकर ईश्वर को जरा अपने से बड़ा मस्तिष्क समझ रहे थे, उनके लिए नये नये पिंड समूहों का निकलना और नये नये रहस्यों का प्रगट-होना जरूर खतरे की बात है, और दस पांच साल तक उन्हें खामोशी से महान् आत्मा को स्वीकार कर लेना चाहिए।

हमारे जैसे साधारण कोटि के मनुष्यों के लिए तो ईश्वर का अस्तित्व कभी विवाद का विषय हो ही नहीं सकता। विवाद का विषय केवल यह है कि यह दुनियावी मामलों में कुछ दिलचस्पी लेता है या नहीं। एक दल तो कहता है, और इस दल में बड़े बड़े लोग शामिल हैं, कि बिना उसकी मर्जी के पत्ती भी नहीं हिलती और वह सुख-दुःख, जीवन-मरण, स्वर्ग-नरक की व्यवस्था करता रहता है, और एक अनुत्तर-

वाली राजा की भाँति संसार पर शासन करता है। क्या मजाल कि कोई किसी भाई को या जीव को कष्ट देकर बच जाय। उसे दंड मिलेगा और अवश्य मिलेगा। इस जन्म में न मिला न सही, अगले जन्म में पाई पाई चुका ली जायगी। दूसरा पक्ष कहता है कि नहीं, ईश्वर ने संसार को बनाकर उसे पूर्ण स्वराज्य दे दिया है। डोमिनियन स्टेटस या यह कायल नहीं। उसने तो पूर्ण से भी कड़ा पूर्ण स्वराज्य दे दिया है। मनुष्य जो चाहे करे, उसे मतलब नहीं। उसने जो नियम बना दिया है, उसकी पकड़ में आ जायगा तो तत्काल सजा भुगतना पड़ेगा और कानून के अन्दर चले जाओ, तो उसकी फौज और उसके मन्त्री और कर्मचारी तांक भी न लेंगे। एक दल दूसरे दल पर अमानुषिक अत्याचार करे, ईश्वर से कोई मतलब नहीं। उसने कानून बना दिया है कि जो शक्ति संग्रह करेगा वह बलवान होगा और बलवान हमेशा निर्बलों पर शासन करता है। शक्ति कैसे संग्रह की जाती है, इसके साधन मनुष्य ने अनुभव से प्राप्त किये हैं, कुछ शास्त्र और विज्ञान से सीखा है। जो पुरुषार्थी और कर्मण्य हैं, उनकी विजय है, और जो दुर्बल हैं, उनकी हार है। ईश्वर को इसमें कोई दखल नहीं। मनुष्य लाख प्रार्थना करे, लाख स्तुति गाये, लाख जप तप करे, कोई फायदा नहीं। यहाँ एक राष्ट्र और एक समाज दूसरे राष्ट्र या समाज को पीसकर पी जाय, ईश्वर की बला से। और यह नृसिंह और प्रभु 'अब काहे नाहीं सुनत हमारी टेर' वाली बातें केवल अपनी नपुंसकता की दलीलें हैं। हमने तो मोटी सी बात समझ ली है कि ईश्वर रोम-रोम में, अणु अणु में व्याप्त है। मगर उसी तरह जैसे हमारी देह में प्राण है। उसका काम केवल शक्ति और जीवन दे देना है। उस शक्ति से हम जो काम चाहें, लें, यह हमारी इच्छा पर है। यह मनुष्य की हिमाकत या अभिमान है कि वह अपने को अन्य जीवों से ऊँचा समझता है। वृक्ष और खटमल भी जीव हैं। वृक्ष को हम लगाते हैं, लग जाता है, काटते हैं, कट जाता है। खटमल हमें काटता है, हम उसे मारते हैं, हमें न काटे, तो

हमें उससे कोई मतलब नहीं, अपने पड़ा रहे। ईश्वर को जिस तरह पौधों और खटमलों के मरने जीने से कोई मतलब नहीं, उसी तरह मनुष्य रूपी कीटों से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं। आपस में कटो-मरों, समष्टि की उपासना करो चाहे व्यष्टि की, गऊ की पूजा करो या गऊ की हत्या करो, ईश्वर को इससे कोई प्रयोजन नहीं। मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों में है। जिस काम से मनुष्य समाज को क्षति पहुँचती है, वह पाप है। जिससे उसका उपकार होता है, वह पुण्य है। सामाजिक उपकार या अपकार से परे हमारे किसी कार्य का कोई महत्त्व नहीं है और मानव जीवन का इतिहास आदि से इसी सामाजिक उपकार की मर्यादा बाँधता चला आया है। भिन्न भिन्न समाजों और श्रेणियों में यह मर्यादा भी भिन्न है। एक समाज पराई चीज की तरफ आँख उठाना भी बुरा समझता है, दूसरा समाज कोई चीज दाम देकर खरीदना पाप ख्याल करता है। एक समाज खटमल के पीछे मनुष्य को कत्ल करने पर तैयार है, दूसरा समाज पशुओं के शिकार को मनोरंजन की वस्तु समझता है। अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे और आज भी संसार के बाज़े हिस्सों में धर्म केवल गुटबन्दी का नाम है जिससे मनुष्यों का एक समूह लोक और परलोक की सारी अच्छी चीजें अपने ही लिए रिजर्व कर लेता है और किसी दूसरे समूह का उसमें उस वक्त तक हिस्सा नहीं देता जब तक वह अपना दल छोड़कर उसके दल में न आ मिले। धर्म के पीछे क्या क्या अत्याचार हुए हैं, कौन नहीं जानता। आजकल धर्म का वह महत्त्व नहीं है। वह पद अब व्यापार को मिल गया है। और इस व्यापार के लिए आज राष्ट्रों और जातियों में कैसा संघर्ष हो रहा है, यह हम देख ही रहे हैं। ईश्वर को इन सारे टंटों से कोई मतलब नहीं है। चाहे कोई राम को बीसों कला का अवतार माने या गान्धी को, ईश्वर को परवाह नहीं। उपासना और भक्ति यह सब अपनी मनोवृत्तियों की चीजें हैं, ईश्वर को हमारी भक्ति और उपासना से कोई मतलब नहीं। इस व्रत

रखते हैं तो इससे हमारी पाचन शक्ति ठीक हो सकती है, और हम दुनि
के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकते हैं, इस अर्थ में तो जरूर व्रत पुण्य है
लेकिन भगवान जी उससे प्रसन्न होकर, या लाख बार राम नाम की ग
लगाने से, हमारा संकट हर लेंगे, यह बिल्कुल गलत बात है। इस संसार
की एक प्रधान शक्ति है, लेकिन [illegible] और इसलिए पक्षहीन। अगर
ईश्वर अपने भक्तों की हिमायत करता, तो आज मन्दिरों, देवालयों
और मस्जिदों की यह तपोभूमि क्यों इस दशा में होती!

लेकिन नहीं, हम शायद भूल कर रहे हैं। भगवान अपने भक्तों को दुखी देखकर ही प्रसन्न होता है क्योंकि उसका स्वार्थ हमारे दुखी रहने में है। सुखी होकर कौन भगवान को याद करता है...दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।

रखते हैं तो इससे हमारी पाचन शक्ति ठीक हो सकती है, और हम स
के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकते हैं, इस अर्थ में तो जरूर व्रत पुण्य
लेकिन भगवान जी उससे प्रसन्न होकर, या लाख बार राम राम की
लगाने से, हमारा संकट हर लेंगे, यह बिल्कुल गलत बात है। हम सं
की एक प्रधान जाति हैं, लेकिन अकर्मण्य और इसलिए पराधीन। अ
ईश्वर अपने भक्तों की हिमायत करता, तो आज मन्दिरों, देवाल
और मस्जिदों की यह तपोभूमि क्यों इस दशा में होती!

लेकिन नहीं, हम शायद भूल कर रहे हैं। भगवान अपने भक
को दुखी देखकर ही प्रसन्न होता है क्योंकि उसका स्वार्थ हमारे दु
रहने में है। सुखी होकर कौन भगवान की याद करता है...दुख
सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय।

संग्राम में साहित्य

घोर संकट में पड़ने पर ही आदमी की ऊँची से ऊँची, कठोर से कठोर और पवित्र से पवित्र मनोवृत्तियों का विकास होता है। साधारण दशा में मनुष्य का जीवन भी साधारण होता है। वह भोजन करता है, सोता है, हँसता है, विनोद का आनन्द उठाता है। असाधारण दशा में उसका जीवन भी असाधारण हो जाता है और परिस्थितियों पर विजय पाने, या विरोधी कारणों से अपनी आत्म-रक्षा करने के लिये उसे अपने छिपे हुए मनोभावों को बाहर निकालना पड़ता है। आत्म-त्याग और बलिदान के, धैर्य और साहस के, उदारता और विशालता के जौहर उसी वक्त खुलते हैं, जब हम बाधाओं से घिर जाते हैं। जब देश में कोई विप्लव या संग्राम होता है, तो जहाँ वह चारों तरफ़ हाहाकार मचा देता है, वहाँ हममें देव-दुर्लभ गुणों का संस्कार भी कर देता है। और साहित्य क्या है? हमारी अन्तर्तम मनोवृत्तियों के विकास का इतिहास। इसलिये यह कहना अनुचित नहीं है, कि साहित्य का विकास संग्राम ही में होता है। संसार-साहित्य के उज्ज्वल से उज्ज्वल रत्नों को ले लो, उनकी सृष्टि या तो किसी संग्रामकाल में हुई है, या किसी संग्राम से सम्बन्ध रखती है।

रूस और जापान के युद्ध में आत्म-बलिदान के जैसे उदाहरण मिलते हैं, वह और कहाँ मिलेंगे? यूरोपियन युद्ध में भी साधारण मनुष्यों ने ऐसे ऐसे विलक्षण काम कर दिखाए, जिन पर हम आज दाँतों उँगली दबाते हैं। हमारा स्वाधीनता-संग्राम भी ऐसे उदाहरणों से खाली नहीं

है। यद्यपि हमारे समाचारपत्रों की ज़बानें बन्द हैं और देश में जो कुछ हो रहा है, हमें उसकी ख़बर नहीं होने पाती, फिर भी कभी-कभी त्याग और सेवा, शौर्य और विनय के ऐसे-ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जिन पर हम चकित हो जाते हैं। ऐसी ही दो-एक घटनाएँ हम आज अपने पाठकों को सुनाते हैं।

एक नगर में कुछ रमणियाँ कपड़े की दूकानों पर पहरा लगाये खड़ी थीं। विदेशी कपड़ों के प्रेमी दूकानों पर आते थे। पर उन रमणियों को देखकर हट जाते थे। शाम का वक्त था। कुछ अँधेरा हो चला था। उसी वक्त एक आदमी एक दूकान के सामने आकर कपड़े ख़रीदने के लिये आग्रह करने लगा। एक रमणी ने जाकर उससे कहा—महाशय, मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, कि आप विलायती कपड़ा न ख़रीदें।

ग्राहक ने उस रमणी को रसिक नेत्रों से देखकर कहा—अगर तुम मेरी एक बात स्वीकार कर लो, तो मैं क़सम खाता हूँ, कभी विलायती कपड़ा न ख़रीदूँगा।

रमणी ने कुछ सशंक होकर उसकी ओर देखा और बोली—क्या आज्ञा है?

ग्राहक लम्पट था। मुसकराकर बोला—बस, मुझे एक बोसा दे दो।

रमणी का मुख अरुणवर्ण हो गया, लज्जा से नहीं, क्रोध से। दूसरी दूकानों पर और कितने ही वालंटियर खड़े थे। अगर वह ज़रा-सा इशारा कर देती, तो उस लम्पट की धज्जियाँ उड़ जातीं। पर रमणी विनय की अपार शक्ति से परिचित थी। उसने सजल नेत्रों से कहा—अगर आपकी यही इच्छा है, तो ले लीजिए, मगर विदेशी कपड़ा न ख़रीदिये। ग्राहक परास्त हो गया। वह उसी वक्त उस रमणी के चरणों पर गिर पड़ा और उसने प्रण किया कि कभी विलायती वस्त्र न लूँगा, क्षमा-प्रार्थना की और लज्जित तथा संस्कृत होकर चला गया।

एक दूसरे नगर की एक और घटना सुनिए। यह भी कपड़े की

दूकान और पिकेटिंग ही की घटना है। एक दुराग्रही मुसलमान की दूकान पर ज़ोरों का पिकेटिंग हो रहा था। सहसा एक मुसलमान सज्जन अपने कुमार पुत्र के साथ कपड़ा खरीदने आये। सत्याग्रहियों ने हाथ जोड़े, पैरों पड़े. दूकान के सामने लेट गये; पर खरीदार पर कोई असर न हुआ। वह लेटे हुए स्वयंसेवकों को रौंदता हुआ दूकान में चला गया। जब कपड़े लेकर निकला, तो फिर वालंटियरों को रास्ते में लेटे पाया। उसने क्रोध में आकर एक स्वयंसेवक के एक ठोकर लगाई। स्वयंसेवक के सिर से खून निकल आया। फिर भी वह अपनी जगह से न हिला। कुमार पुत्र दूकान के ज़ीने पर खड़ा यह तमाशा देख रहा था। उसका बाल-हृदय यह अमानुषीय व्यवहार सहन न कर सका। उसने पिता से कहा—बाबा, आप कपड़े लौटा दीजिए।

बाप ने कहा—लौटा दूँ! मैं इन सबों को छाती पर से निकल जाऊँगा।

'नहीं, आप लौटा दीजिए!'

'तुम्हें क्या हो गया है? भला लिये हुए कपड़े लौटा दूँ!'

'जी हाँ!'

'यह कभी नहीं हो सकता।'

'तो फिर मेरी छाती पर पैर रखकर जाइए।'

यह कहता हुआ वह बालक अपने पिता के सामने लेट गया। पिता ने तुरन्त बालक को उठाकर छाती से लगा लिया और कपड़े लौटाकर घर चला गया।

तीसरी घटना कानपुर नगर की है। एक महाशय अपने पुत्र को स्वयंसेवक न बनने देते थे। पुत्र के मन में देश सेवा का असीम उत्साह था; पर माता पिता की अवज्ञा न कर सकता था। एक ओर देश प्रेम था, दूसरी ओर माता-पिता की भक्ति। यह अंतर्द्वन्द्व उसके लिए एक दिन असह्य हो उठा। उसने घर वालों से कुछ न कहा। जाकर रेल की

पटरी पर लेट गया। ज़रा देर में एक गाड़ी आई और उसकी हड्डियों तक को चूर-चूर कर गई।

चौथी घटना एक दूसरे नगर की है। मन्दिरों पर स्वयंसेवकों का पहरा था। स्वयंसेवक जिसे विलायती कपड़े पहने देखते थे उसे मन्दिर में न जाने देते थे। उसके सामने लेट जाते थे। कहीं-कहीं स्त्रियाँ भी पहरा दे रही थीं। सहसा एक स्त्री खद्दर की साड़ी पहने आकर मन्दिर के द्वार पर खड़ी हो गई। वह कांग्रेस की स्वयंसेविका न थी, न उसके अंचल में सत्याग्रह का बिल्ला ही था। वह मन्दिर के द्वार के समीप खड़ी तमाशा देख रही थी और स्वयंसेविकाएँ विदेशी वस्त्र धारियों से अनुनय-विनय करती थीं, सत्याग्रह करती थीं। पर वह स्त्री सबसे अलग चुपचाप खड़ी थी। उसे आये कोई घंटा-भर हुआ होगा, कि सड़क पर एक फिटन आकर खड़ी हुई और उसमें से एक महाशय सुन्दर महीन रेशमी पाड़ की धोती पहने निकले। वह थे रायबहादुर हीरामल, शहर के सबसे बड़े रईस, आनरेरी मैजिस्ट्रेट, सरकार के परम भक्त और शहर की अमन-सभा के प्रधान। नगर में उनसे बढ़कर कांग्रेस का विरोधी न था। पुजारीजी ने लपककर उनका स्वागत किया और उन्हें गाड़ी से उतारा। स्वयंसेविकाओं की हिम्मत न पड़ी, कि उन्हें रोक लें। वह उनके बीच में होते हुए द्वार पर आये और अन्दर जाना ही चाहते थे, कि वही खद्दरधारी रमणी आकर उनके सामने खड़ी हो गई और गम्भीर स्वर में बोली—आप यह कपड़े पहनकर अन्दर नहीं जा सकते।

हीरामलजी ने देखा, तो सामने उनकी पत्नी खड़ी है। कलेजे में बर्छी-सी घुस गई। बोले—तुम यहाँ क्यों आईं?

रमणी ने दृढ़ता से उत्तर दिया—इसका जवाब फिर दूँगी। आप यह कपड़े पहने हुए मन्दिर में नहीं जा सकते।

'तुम मुझे नहीं रोक सकतीं।'

'तो मेरी छाती पर पाँव रखकर जाइएगा।'

यह कहती हुई वह मन्दिर के द्वार पर बैठ गई।

'तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो !'

'नहीं, मैं आपके मुंह का कलंक मिटाना चाहती हूँ।'

'मैं कहता हूँ, हट जाओ। पति का विरोध करना स्त्रियों का धर्म नहीं है। तुम क्या अनर्थ कर रही हो, यह तुम नहीं समझ सकतीं।'

'मैं यहाँ आपकी पत्नी नहीं हूँ। देश की सेविका हूँ। यहाँ मेरा कर्तव्य यही है, जो मैं कर रही हूँ। घर में मेरा धर्म आपकी आज्ञाओं को मानना था। यहाँ मेरा धर्म देश की आज्ञा को मानना है।'

हीरामलजी ने धमकी भी दी, मिन्नतें भी कीं पर रमणी द्वार से न हटी। आखिर पति को लज्जित होकर लौटना पड़ा। उसी दिन उनका स्वदेशी संस्कार हुआ।

पाँचवीं घटना उन गढ़वाली वीरों की है, जिन्होंने पेशावर के सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इनकार किया। शायद हमारी सरकार को पहली बार राष्ट्रीय आन्दोलन की महत्ता का बोध हुआ। वह गोरखे जिन्हें हम लोग पशु समझते थे, जिनकी राज-भक्ति पर सरकार को अटल विश्वास था, जिनमें राष्ट्रीय भावों की जाग्रति की कोई कल्पना भी न कर सकता था, उन्हीं गोरखे योद्धाओं ने निःशस्त्र सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्हें खूब मालूम था, कि इसका नतीजा कोर्टमार्शल होगा, हमें काले पानी भेजा जायगा, फाँसियाँ दी जायँगी, शायद गोली मार दी जाय; पर यह जानते हुए भी उन्होंने गोली चलाने से इनकार किया! कितना आसान था गोली चला देना। राइफल के घोड़े को दबाने की देर थी। पर धर्म ने उनकी उँगलियों को बाँध दिया था। धर्म की वेदी पर इतने बड़े बलिदान का उदाहरण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेगा।

साहित्य में समालोचना

साहित्य में समालोचना का जो महत्व है उसको बयान
जरूरत नहीं। मद् साहित्य का निर्माण बहुत गम्भीर समालोच
मुनहसर है। योरप में इस युग को समालोचना का युग कहने
प्रति-वर्ष सैकड़ों पुस्तकें केवल समालोचना के विषय की निकल
हैं, यहाँ तक कि ऐसे ग्रन्थों का प्रचार, प्रभाव, और स्थान
रचनाओं से किसी प्रकार घटकर नहीं है। कितने ही पत्रों और
में स्थायी रूप से आलोचनायें निकलती रहती हैं; लेकिन हिन्द
तो समालोचना होती ही नहीं या होती है तो द्वेष या झूठी
भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसे समालोच
कम हैं जो किसी रचना की तह में डूबकर उसका तात्विक,
निक विवेचन कर सकें। हाँ कभी-कभी प्राचीन ग्रन्थों की
नजर आ जाती है जिसे सही मानों में समालोचना कह सकते
हम तो इसे साहित्यिक मुर्दापरस्ती ही कहेंगे। प्राचीन कवि
साहित्याचार्यों का यशोगान हमारा धर्म है, लेकिन जो प्राण
अतीत में रहे, पुरानी सम्पदा का ही स्वप्न देखता रहे और अपने
आनेवाली बातों की तरफ से आँखें बन्द कर ले, वह कभी
पर खड़ा हो सकता है, इसमें हमें सन्देह है। पुरानों ने जो कुछ
सोचा और किया, वह पुरानी दशाओं और परिस्थितियों के
किया। नए जो कुछ लिखते, सोचते, या करते हैं, वह वर्तमा
स्थितियों के अधीन करते हैं। इनकी रचनाओं में वही भावना

आकांक्षायें होती हैं जिनसे वर्तमान युग आन्दोलित हो रहा है। यदि हम पुराने *विशाल खण्डहरों ही को प्रतिमा की भाँति पूजते रहें* और अपनी नई झोंपड़ी की बिल्कुल चिन्ता न करें तो हमारी क्या दशा होगी, इसका हम अनुमान कर सकते हैं।

आइए देखें इस अभाव का कारण क्या है। हिन्दी साहित्य में ऐसे लेखकों की ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो संसार साहित्य से परिचित हैं, साहित्य के मर्मज्ञ हैं, साहित्य के तत्वों को समझते हैं। साहित्य का *पथ प्रदर्शन उन्हीं का कर्तव्य है। लेकिन या तो वह हिन्दी पुस्तकों* की आलोचना करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं या उन्हें हिन्दी-साहित्य में कोई चीज आलोचना के योग्य मिलती ही नहीं या फिर हिन्दी भाषा उन्हें अपने गहरे विचारों को प्रकट करने के लिए काफी नहीं मालूम होती। इन तीनों ही कारणों में कुछ न कुछ तत्व है, मगर इसका इलाज क्या हिन्दी-साहित्य से मुँह मोड़ लेना है? क्या आँखें बन्द करके बैठ जाने से *ही सारी विपत्ति-बाधायें टल जाती हैं?* हमें साहित्य का निर्माण करना है, हमें हिन्दी को भारत की प्रधान भाषा बनाना है, हमें हिन्दी-द्वारा राष्ट्रीय एकता की जड़ जमाना है। क्या इस तरह उदासीन हो जाने से ये उद्देश्य पूरे होंगे? योरोपीय भाषाओं की इसलिए उन्नति हो रही है कि वहाँ दिमाग और दिल रखने वाले व्यक्ति उससे दिलचस्पी रखते हैं, बड़े-बड़े पदाधिकारी, लीडर, प्रोफ़ेसर और धर्म के आचार्य साहित्य की प्रगति से परिचित रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। यही नहीं बल्कि अपने साहित्य से प्रेम उनके जीवन का एक अंग है, उसी तरह जैसे अपने देश के नगरों और दृश्यों की सैर। लेकिन हमारे यहाँ चोटी के लोग देशी साहित्य की तरफ ताकना भी हेय समझते हैं। कितने ही तो बड़े रोब से कहते हैं, हिन्दी में रखा ही क्या है। अगर कुछ गिने-गिनाये लोग हैं भी तो वह समझते हैं इस क्षेत्र में आकर हमने एहसान किया है। वह यह आशा रखते हैं कि हिन्दी संसार उनकी हर एक बात को आँखें बन्द करके स्वीकार

करे, उनके कलम से जो कुछ निकले, ब्रह्मवाक्य समझा जाय। वह शायद समझते हैं, मौलिकता उपाधियों से आती है। वह यह भूल जाते हैं कि विरला ही कोई उपाधिधारी मौलिक होता है। उपाधियाँ जानी हुई और पढ़ी हुई बातों के प्रदर्शन या परिवर्तन से मिलती हैं। मौलिकता इसके सिवा और कुछ भी है। अगर कोई 'डाक्टर' या 'प्रोफ़ेसर' लिखे तो शायद ऊँचे मस्तिष्क वालों की यह बिरादरी उसका स्वागत करे। लेकिन दुर्भाग्य-वश हिन्दी के अधिकांश लेखक न डाक्टर हैं, न फ़िलासफ़र, फिर उनकी रचनायें कैसे सम्मान पायें और कैसे आलोचना के योग्य समझी जायें। किसी वस्तु की प्रशंसा तो और बात है, निन्दा भी कुछ न कुछ उसका महत्व बढ़ाती है। वह निन्दा के योग्य तो समझी गई। हमारी यह दिमाग़वालों की बिरादरी किसी रचना की प्रशंसा तो कर ही नहीं सकती; क्योंकि इससे उसकी हेठी होती है, दुनिया कहेगी, यह तो शा। और शेली और शिलर की बातें किया करते थे, उस आकाश से इतने नीचे कैसे गिर गये! हिन्दी में भी कोई ऐसा चीज़ हो सकती है, जिसकी ओर वह आँखें उठा सकें, यह उनकी शिक्षा और गौरव के लिये लज्जास्पद है। बेचारे ने तीन वर्ष पेरिस और लन्दन की खाक छानी, इसीलिये कि हिन्दी लेखकों की आलोचना करे! फ़ारसी पढ़कर भी तेल बेचे! हम ऐसे कितने ही सज्जनों को जानते हैं जो डाक्टर या डी॰ लिट्॰ होने के पहले हिन्दी में लिखते थे; लेकिन जब से डाक्टरेट की उपाधि मिली, वह पतंग की भाँति आकाश में उड़ने लगे। आलोचना-साहित्य की उनके द्वारा पूर्ति हो सकती थी; क्योंकि रचना के लिये चाहे विशेष शिक्षा की ज़रूरत न हो, आलोचना के लिये संसार-साहित्य से परिचित होने की ज़रूरत है। हमारे पास कितने ही युवक लेखकों की रचनायें, प्रकाशित होने के पहले, सम्मति के लिये आती रहती हैं। लेखक के हृदय में भाव है, मस्तिष्क में विचार हैं, कुछ प्रतिभा है, कुछ लगन, कुछ संस्कार, उसे केवल एक अच्छे सलाहकार की ज़रूरत है। इतना सहारा पाकर वह कुछ से कुछ हो जा सकता है; लेकिन यह सहारा उसे

नहीं मिलता। न कोई ऐसे व्यक्ति हैं, न समिति, न मंडल। केवल पुस्तक-प्रकाशकों की पसन्द का भरोसा है। उसने रचना स्वीकार कर ली, तो खैर, नहीं सारी की-कराई मेहनत पर पानी फिर गया। प्रेरक शक्तियों में यशोलिप्सा शायद सबसे बलवान है। जब यह उद्देश्य भी पूरा नहीं होता, तो लेखक बंधा डाल देता है और इस भाँति न जाने कितने गुदड़ी के लाल छिपे रह जाते हैं। या फिर वह प्रकाशक महोदय के आदेशानुसार लिखना शुरू करता है और इस तरह कोई नियन्त्रण न होने के कारण, साहित्य में कुरुचि बढ़ती जाती है। इस तरफ जैनेन्द्रकुमारजी की 'परख', प्रसादजी का 'कंकाल', प्रतापनारायणजी की 'विदा', निरालाजी की 'अप्सरा', वृन्दावनलालजी का 'गढ़कुण्डार' आदि कई सुन्दर रचनायें प्रकाशित हुई हैं। मगर इनमें से एक की भी गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना नहीं निकली। जिन महानुभावों में ऐसी आलोचना की सामर्थ्य थी, उन्हें शायद इन पुस्तकों की खबर भी नहीं हुई। इनसे कहीं घटिया किताबें अंग्रेज़ी में निकलती रहती हैं और उन्हें ऊँची बिरादरीवाले सज्जन शौक़ से पढ़ते और संग्रह करते हैं; पर इन रत्नों की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। प्रशंसा न करते, दोष तो दिखा देते, ताकि इनके लेखक आगे के लिये सचेत हो जाते, पर शायद इसे भी वे अपने लिये ज़लील समझते हैं। इङ्गलैण्ड का रामज़े मैकेडानेल्ड या शौनर ला अंग्रेज़ी साहित्य पर प्रकाश डालनेवाला व्याख्यान दे सकता है; पर हमारे नेता खद्दर पहनकर अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हुए, हिन्दी-साहित्य का अलिफ़ बे भी नहीं जानते। यह इसी उदासीनता का नतीजा है, कि 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा भावशून्य गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतना प्रचार पा रहा है। 'वन्देमातरम्' को यदि 'विजयी विश्व'-के मुकाबले में रखकर देखिए, तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी-साहित्य को आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है। जहाँ अच्छी चीज़ की क़द्र करने वाले और परखने वाले नहीं हैं वहाँ नक़ली, घटिया, ज़टियल चीज़ें ही बाज़ार में आवें, तो कोई

आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में हमारे यहाँ साहित्यिक जीवन का पता ही नहीं। नीचे से ऊपर तक मुरदनी-सी छाई हुई है। यही मुख्य कारण है कि हिन्दी लेखकों में बहुत से ऐसे लोग आ गये हैं, जिनका स्थान कहीं और था। और, जब तक शिक्षित समुदाय अपने साहित्यिक कर्तव्य की यों अवहेलना करता रहेगा, यही दशा बनी रहेगी। जहाँ साहित्य सम्मेलन जैसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों की कुल संख्या दो सौ से अधिक नहीं, वहाँ का साहित्य बनने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

———

हिन्दी-गल्प-कला का विकास

अगर आज से पचीस तीस साल पहले की किसी पत्रिका को उठाकर आज की किसी पत्रिका से मिलाइए, तो आप को मालूम होगा कि हिन्दी गल्प-कला ने कितनी उन्नति की है। उस वक्त शायद ही कोई कहानी छपती थी, या छपती भी थी, तो किसी अन्य भाषा से अनूदित। मौलिक कहानी तो खोजने से भी न मिलती थी। अगर कभी कोई मौलिक चीज निकल जाती थी, तो हमको तुरन्त सन्देह होने लगता था, कि यह अनुवादित तो नहीं है। अनुवादित न हुई, तो छाया तो अवश्य ही होगी। हमें अपनी रचना-शक्ति पर इतना अविश्वास हो गया था। मगर आज किसी पत्रिका को उठा लीजिए, उसमें अगर ज्यादा नहीं, तो एक तिहाई अंश कहानियों से अलंकृत रहता ही है। और कहानियाँ भी अनूदित नहीं, मौलिक। इस तेज़ चाल से दौड़ने वाले युग में किसी को किसी से बात करने की मुहलत नहीं है, मनुष्य को अपनी आत्मा की प्यास बुझाने के लिए, कहानी ही एक ऐसा साधन है, जिससे वह ज़रा-सी देर में—जितनी देर में वह चाय का एक प्याला पीता या फ़ोन पर किसी से बातें करता है—प्रकृति के समीप जा पहुँचता है। साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस ज़ाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति, छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है,

जहाँ Reality अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है। अ
अब गल्प के सिर आ पड़ा है। कवि का रहस्य-मय सं
लिए अवकाश और शांति चाहिए। निबन्धों के गूढ़ तत्व
लिए मनोयोग चाहिये। उपन्यास का आकार ही हमें भयभीत
और ड्रामें तो पढ़ने की नहीं बल्कि देखने की वस्तु हैं। इ
ही आज साहित्य की प्रतिनिधि है, और कला उसे सजाने
करने के और अपनी इस भारी जिम्मेदारी को पूरा करने के
में दिलोजान से लगी हुई है। कहानी का आदर्श ऊँचा
है, और जैसी कहानियाँ लिख कर बीस-पच्चीस साल पहले
पा जाते थे, आज उनसे सुन्दर कहानियाँ भी मामूली समझ
हमें हर्ष है कि हिन्दी ने भी इस विकास में अपने मर्यादा
है और आज हिन्दी में ऐसे-ऐसे गल्पकार आ गये हैं, जो वि
लिए गौरव की वस्तु हैं। सदियों की गुलामी ने हमारे अ
को लुप्त कर दिया है, विचारों की आज़ादी नाम को भी
अपनी कोई चीज़ उस वक्त तक हमें नहीं जँचती, जब त
आलोचक उसकी प्रशंसा न करें। इसलिए हिन्दी के आने
कारों को चाहे कभी वह स्थान न मिले, जिसके वे अधिकारी
कसंमपुरसी के कारण उनका हतोत्साह हो जाना भी स्वाभावि
हमें तो उनकी रचनाओं में जो आनन्द मिला है, वह पश्चिम से
नियों में बहुतों में नहीं मिला। संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों का
अभी हाल में ही हमने पढ़ा है, जिसमें यूरप की हरेक जाति,
ब्राज़ील, मिस्र आदि सभी की चुनी हुई कहानियाँ दी गई हैं;
आधी दरजन से ज्यादा ऐसी कहानियाँ नहीं मिलीं, जिनका
रोब जारी हो जाता। इस संग्रह में भारत के किसी गल्पकार
रचना नहीं है, यहाँ तक कि डॉ॰ रवीन्द्रनाथ की किसी
भी स्थान नहीं दिया गया। इससे संग्रहकर्ता की नीयत सा

है, और अगर किसी भारतीय साहित्यकार को कुछ आदर मिला है तो उसमें भी पश्चिमवालों की श्रेष्ठता का भाव छिपा हुआ है, मानो उन्होंने हमारे ऊपर कोई एहसान किया है। हमारे यहाँ ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्हें यूरप की अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं और अपनी बुरी बात भी अच्छी। अगर हम में आत्म विश्वास की कमी अपना आदर नहीं करने देती, तो जातीय अभिमान की अधिकता भी हमें असलियत तक नहीं पहुँचने देती। कम से कम साहित्य के विषय में तो हमें निष्पक्ष होकर खरे खोटे को परखना चाहिए। यूरप और अमेरिका में ऐसे ऐसे साहित्यकार और कवि हो गुज़रे हैं और आज भी हैं, जिनके सामने हमारा मस्तक आप से आप झुक जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ सब कुछ सोना ही सोना है, पीतल है ही नहीं। कहानियों में तो हिन्दी उनसे बहुत पीछे हर्गिज़ नहीं है, चाहे वे इसे मानें या न मानें। प्रसाद, कौशिक या जैनेन्द्र की रचनाओं के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं है। उनकी चुनी हुई चीज़ें किसी भी विदेशी साहित्यकार की रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं। हम आज उन गल्पकारों का कुछ ज़िक्र करना चाहते हैं, जो हिन्दी-गल्प-कला के विकास में श्रेय के साथ अपना पार्ट अदा कर रहे हैं, यद्यपि साहित्य समाज में उनका उतना आदर नहीं है, जितना होना चाहिए।

इन गल्पकारों में पहला नाम जो हमारे सामने आता है वह है—भारतीय एम० ए०। इनकी अभी तक पाँच-छः कहानियाँ पढ़ने का ही हमें अवसर मिला है और इनमें हमने भावों की वह प्रौढ़ता, निगाह की वह गहराई, मनविज्ञान की वह बारीकी और भाषा की वह सरलता पाई है कि हम मुग्ध हो गये हैं। 'हंस' की पिछली संख्या में 'मुनमुन' नाम की उनकी कहानी अद्भुत है और हम उसे 'मास्टरपीस' कह सकते हैं। वह नवीनता और सनसनी के पीछे नहीं दौड़ते, कहीं चमकने की सचेष्टा नहीं करते, ऊँचे उड़ने की हवस उन्हें नहीं है। वह उसी दायरे में रहते हैं, जिसका उन्होंने कलाकार की आँखों से अनुभव किया है,

और उनके हृदय को मसोसता उन मार्मिक दृश्यों में कु
कुछ ऐसा रस भर देती है कि पाठक पढ़ने के वक्त
उसका आनन्द उठाता है, और उसका मन करता है
मिनिटों का इससे अच्छा इस्तेमाल वह न कर सकता
मनोहर विद्वान् हैं, हिन्दी के एम० ए० । पुराने कवि
छूट रहा है । और उनकी रचनाओं की टीकाएँ भी लिख
सृष्टि की ओर उनका ध्यान हाल में आया है, और हम
यह अच्छा ही हुआ । कभी लेखनी इस क्षेत्र में जो
करती है, वह उन्हें नहीं लानी पड़ी ।

भारतीयजी की कहानियों को अगर किसी पुराने स्तू
मधु की उपमा दें, जिसकी जीवन धारा सेवा और त्याग
शान्ति के साथ बहती है, तो श्री वीरेश्वरसिंह की कहानियों में
की युवती का लोच और सिंगार है, जिसके लिए संसार केवल
का क्षेत्र नहीं, आनन्द और विनोद का क्षेत्र भी है । इनकी
में कुछ ऐसी शोखी, कुछ ऐसी सजावट, कुछ ऐसा बाँकपन है
युवक फड़क जाते हैं, और युवतियाँ आँखें झुका लेती हैं । मग
दायरा अभी फैलने नहीं पाया है । हमने इनकी जितनी कहानि
हैं, अतीत जीवन के दो एक रसीले अनुभवों की झलक मिली
उनमें यह कुछ ऐसा जादू-सा भर देते हैं कि एक-एक वाक्य
बार पढ़ने को जी चाहता है । बात में बात पैदा करने में इन्हें क
और मामूली-सी बात को यह ऐसे सुन्दर, चुलबुले शब्दों में कह
कि सामने फूल-सा खिल जाता है । जैसे-जैसे अनुभवों की सीमा फै
इनकी रचनाओं में प्रौढ़ता और गहराई आयगी; मगर हमें आशा
इनका चुलबुलापन बना रहेगा और इस अनोखे रङ्ग की रक्षा क
रहेगा ।

उसी उपमा की रक्षा करते हुए, हम श्री भुवनेश्वर प्रसाद 'भुव
की रचनाओं में उस विधवा का तेज और कसक और विद्रोह पाते

जिसे समाज और संसार कुचल डालना चाहता हो। पर वह अकेली सारी दुनिया को चुनौती देने खड़ी हो। भुवनजी से हमारा परिचय विचित्र परिस्थिति में हुआ और हमने उनके रोम-रोम में वह असंतोष, वह गहरी सूझ, और मनोभावों को व्यक्त करने की वह शक्ति पाई, जो अगर संयम से काम लिया गया, और परिस्थितियों ने प्रतिभा को कुचल न दिया, तो एक दिन हिन्दी को उन पर गर्व होगा। उनके मिजाज में एक छैलापन है और उन्हें अपने-आप में डूबे रहने और अपनी कटुताओं से सरल जीवन को कटु बनाने का वह मरज है, जो अगर एक ओर साहित्य की जान है, तो दूसरी ओर उसकी मौत भी है। यह ड्रामे भी लिखते हैं और इनके कई एकांकी ड्रामे हंस में निकल चुके हैं। जिन्होंने वह ड्रामे पढ़े हैं, उनको मालूम हुआ होगा कि उनमें कितनी चोट, कितना दर्द और कितना विद्रोह है। भुवनजी उर्दू भी अच्छी जानते हैं, उर्दू और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में शायरी करते हैं, और साहित्य के मर्मज्ञ हैं। उन पर आस्कर वाइल्ड का गहरा रङ्ग चढ़ा हुआ है, जो अद्भुत प्रतिभाशाली होने पर भी कला की पवित्रता को निभा न सका।

इन तीनों सज्जनों से कुछ अलग श्री 'अज्ञेय' का रङ्ग है। उनकी रचनाओं में यद्यपि 'आमद' नहीं 'आवुर्द' है; पर उसके साथ ही गद्य-काव्य का रस है। वह भावना प्रधान होती हैं, गरिमा से भरी हुई, अंतस्तल की अनुभूतियों से रञ्जित एक नये वातावरण में ले जानेवाली, जिन्हें पढ़ कर, कुछ ऐसा आभास होता है कि हम ऊँचे उठ रहे हैं। लेकिन उनका आनन्द उठाने के लिए उन्हें ध्यान से पढ़ने की जरूरत है क्योंकि वे जितना कहती हैं, उससे कहीं ज्यादा वे कहे छोड़ देती हैं। काश, अज्ञेयजी कल्पना-लोक से उतर कर यथार्थ के संसार में आते।

इन्हीं होनहार युवकों में श्री जनार्दनराय नागर हैं। हमारे युवकों में ऐसे सरल, ऐसे शीलवान, ऐसे संयमशील युवक कम होंगे। उनके साथ बैठना और उनकी आत्मा से निकले हुए निष्कपट उद्गारों को सुनना

अनुपम आनन्द है। कहीं बनावट नहीं, ज़रा भी त
ब्रह्मचारी, जिसे आजकल का फैशन छू तक नहीं
इन्तहा की सादगी, इन्तहा की ख़ाकसारी, जो दुनिय
मानों अपने प्रकाश से प्रकाशमान कर देती है। बा
छात्र होकर भी गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का-सा आचरण
उसे खुद खबर ही नहीं कि वह अपने अन्दर कितनी सा
इनकी कई रचनाएँ हमने पढ़ी हैं और प्रकाशित की
ओज नहीं है, चुलबुलापन नहीं है; पर जीवन की सच्ची भ
दर्द है और कलाकार की सच्ची अनुभूति है। इन्होंने एक
भी लिखा है, जिसमें इनकी कला पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई
पढ़कर यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि इसका
बाइस-तेइस वर्ष का युवक है।

इन्हीं रत्नों में हम प्रयाग के श्री त्रिलोकीनाथ भिच्चू का
आवश्यक समझते हैं। इन्होंने दो साल पहले 'दो मित्र' न
मनोहर पशु-जीवन की कहानी लिखी थी। वह हमें इतनी भाई
उसे तुरन्त 'जागरण' में प्रकाशित किया। उसके बाद आ
कहानी 'पहाड़ी' नाम से 'माया' में निकली। वह है तो छोटी-
बड़ी ही मर्मस्पर्शी। इस अंक में आपकी जो 'आशा' नामक
छपी है, वह उनकी कला का अच्छा नमूना है। आपकी रच
स्वस्थ यथार्थता और सहानुभूतिपूर्णता की अनुपम छटा हो
और यद्यपि आप बहुत कम लिखते हैं पर जो कुछ लिख
अच्छा लिखते हैं। आपकी इस कहानी में मधुर प्रणय का
सुन्दर चित्र है कि विषय में कोई नवीनता न होने पर भी क
यथार्थ बन गई है। हमारे पास ६० फीसदी कहानियाँ प्रणय-विषय
आती हैं; पर प्रणय का इतना वीभत्स रूप दिखाया जाता है, या इ
अस्वाभाविक—और बिहार के युवक लेखकों ने मानो इस ढंग
कहानियाँ लिखने का ठीका-सा ले लिया है—कि हमें उनको छापने में संको

होता है और इस बात का खेद होता है कि इन भले आदमियों के हृदय में *प्रेम की कितनी गलत धारणा जमी हुई है। यह विषय जितना ही* व्यापक है, उतना ही उसे निभाना मुश्किल है। छिछोरी लालसा को प्रेम जैसी पवित्र साधना से वही सम्बन्ध है, जो दूध को शराब से है। प्रेम का आदर्श रूप कुछ वही है, जो मिन्टू ने अपनी कहानी में चित्रित किया है।

यह सूची गैर मुकम्मल रह जायगी अगर हम राची के श्री राधाकृष्णजी का उल्लेख न करें। आपकी कई रचनाएँ 'हंस' और 'जागरण' में निकल चुकी हैं और रुचि के साथ पढ़ी गई हैं। आपकी शैली हास्य-प्रधान है और बड़ी ही सजीव। प्रतिकूल दशाओं में रहकर भी आपकी तबीयत में मज़ाक़ का रङ्ग फीका नहीं होने पाया।

हमारी गल्प-कला के विकास में युवकों ने ही नहीं क़दम आगे बढ़ाया है। युवतियाँ भी उनके साथ कंधा मिलाए चल रही हैं। साहित्य और समाज में बड़ा नज़दीकी सम्बन्ध होने के कारण अगर पुरुषों के हाथ में ही क़लम रहे, तो साहित्य के एकतरफ़ा हो जाने का भय है। ऐसे पुरुष किसी साहित्य में भी ज्यादा नहीं हो सकते, जो रमणी हृदय की समस्याओं और भावों का सफल रूप दिखा सकें। एक ही स्थिति को स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग आँखों से देख सकते हैं और देखते हैं। पुरुष का क्षेत्र अब तक अधिकतर घर के बाहर रहा है, और आगे भी रहेगा। स्त्री का क्षेत्र घर के अन्दर है, और इसलिए उसे मनोरहस्यों की तह तक पहुँचने के जितने अवसर मिलते हैं, उतने पुरुषों को नहीं मिलते। उनकी निगाहों में ज्यादा बारीकी, ज्यादा कोमलता, ज्यादा दर्द होता है। साहित्य को सर्वांग पूर्ण बनाने के लिए महिलाओं का सहयोग लाज़िमी है, और मिल रहा है। इधर कई बहनों ने इस मैदान में क़दम रखा है, जिनमें उषा, कमला और सुशीला, ये तीन नाम खास तौर पर सामने आते हैं। श्रीमती उषा मित्रा बंगाली देवी हैं, और शायद उनकी पहली रचना डेढ़-दो साल पहले 'हंस' में

प्रकाशित हुई थी। तब से वह बराबर सभी पत्रिकाओं में लि
उनकी रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों के साथ मानव-जीवन
मनोहर सामंजस्य होता है कि एक-एक रचना में संगीत को
आनन्द आता है। साधारण प्रसंगों में रोमांस का रंग भर दे
कमाल है। इधर उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा है, जिस
वर्तमान समाज की एक बहुत ही जटिल समस्या को हल करने
उद्योग किया है और जीवन का ऐसा आदर्श हमारे सामने पे
है जिसमें भारतीय मर्यादा अपने कल्याणमयरूप की छटा
है। हमें आशा है, हम जल्द ही आपका उपन्यास प्रकाशित कर

श्रीमती कमला चौधरी ने भी लगभग दो साल से इस
पदार्पण किया है, और उनकी रचनाएँ नियमित रूप से 'विशाल
में निकल रही हैं। नारी-हृदय का ऐसा सुन्दर चित्रण हिन्दी में श
ही और कहीं मिल सके। आप की हरेक रचना में अनुभूति क
यथार्थता होती है। 'साधना का उन्माद', 'मधुरिमा' और 'भिखमंगे
बेटी' आदि उनकी वह कहानियाँ हैं, जो नारी हृदय की साधना,
और त्याग का रूप दिखाकर हमें मुग्ध कर देती हैं। आप कभी-क
ग्रामीण बोली का प्रयोग करके अपने चरित्रों में जान-सी डाल देती हैं
आपकी गल्पों का एक संग्रह 'साधना का उन्माद' नाम से हाल में
प्रकाशित हुआ है।

कुमारी सुशीला आग़ा की केवल दो कहानियाँ हमने पढ़ी हैं; लेकिन
वह दोनों कहानियाँ पढ़कर हमने दिल थाम लिया। 'अतीत के चित्र'
में उन्होंने नादिरा की सृष्टि करके सिद्ध कर दिया है कि उनकी रचना-
भूमि ज़रखेज़ है और उसमें मनोहर गुल-बूटे खिलाने की दैवी शक्ति है।
कह नहीं सकते, वह इस शक्ति से काम लेकर साहित्य के उद्यान की
शोभा बढ़ायेंगी, या उसे शिथिल हो जाने देंगी। अगर ऐसा हुआ, तो
साहित्य-प्रेमियों को दुःख होगा।

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य का वर्त्तमान युग मनोविज्ञान का युग कहा जा सकता है। साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह अब केवल विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य का कार्य-क्षेत्र एक है, केवल उनके रचना विधान में अन्तर है। नीति-शास्त्र भी जीवन का विकास और परिष्कार चाहता है, साहित्य भी। नीतिशास्त्र का माध्यम तर्क और उपदेश है। वह युक्तियों और प्रमाणों से बुद्धि और विचार को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। साहित्य ने अपने लिए मनोभावनाओं का क्षेत्र चुन लिया है। वह उन्हीं तत्वों को रागात्मक व्यंजना के द्वारा हमारे अंतस्तल तक पहुँचाता है। उसका काम हमारी सुन्दर भावनाओं को जगाकर उनमें क्रियात्मक शक्ति की प्रेरणा करना है। नीतिशास्त्री बहुत से प्रमाण देकर हमसे कहता है, ऐसा करो, नहीं तुम्हें पछताना पड़ेगा। कलाकार उसी प्रसंग को इस तरह हमारे सामने उपस्थित करता है कि उससे हमारा निजत्व हो जाता है, और वह हमारे आनन्द का विषय बन जाता है।

साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं लेकिन मेरे विचार में उसकी सबसे सुन्दर परिभाषा जीवन की आलोचना है। हम जिस रोमा-

नियत के युग से गुज़रे हैं, उसे जीवन से कोई सम्बन्ध न था। साहित्यकारों में एक दल तो वैराग्य की दुहाई देता था, दूसरा शृंगार में डूबा हुआ था। पतन काल में प्रायः सभी साहित्यों का यही हाल होता है। विचारों को शिथिलता ही पतन का सबसे मनहूस लक्षण है। जब समाज का मस्तिष्क अर्थात् पढ़ा-लिखा शासक भाग, विषय-भोग में लिप्त हो जाता है, तो विचारों की प्रगति रुक जाती है और अकर्मण्यता का अड्डा जमने लगता है। यों तो इतिहास के उज्ज्वल युगों में भी भोगवृत्ति की कमी कमी नहीं रही; मगर फर्क इतना ही है कि एक दशा में तो भोग हमें कर्म के लिए उत्तेजित करता है, दूसरी दशा में वह हमें पस्तहिम्मत और विचारशून्य बना डालता है। समाज इन्द्रियसुख में इतना डूब जाता है कि उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती। उसकी दशा उस शराबी-सी हो जाती है, जिसमें केवल शराब पीने की चेतना रह जाती है। उसकी आत्मा इतनी दुर्बल हो जाती है कि शराब का आनन्द भी नहीं उठा सकती। वह पीता है केवल पीने के लिए, आनन्द के लिए नहीं। जब शिक्षित समाज इस दशा में आ जाता है तो साहित्य पर उसका असर कैसे न पड़े। जब कुछ लोग भोग में डूबेंगे, तो कुछ लोग वैराग्य में भी डूबेंगे ही। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती ही है। चकले और मठ एक दूसरे के जवाब हैं। ये मठ न होते तो चकले भी न होते। ऐसे युग में रोमान ही साहित्यकला का आधार था लेकिन अब हालतें बड़ी तेज़ी से बदलती जा रही हैं। आज का साहित्यकार जीवन के प्रश्नों से भाग नहीं सकता। अगर सामाजिक समस्याओं से वह प्रभावित नहीं होता, अगर वह हमारे सौन्दर्य-बोध को जगा नहीं सकता, अगर वह हममें भावों और विचारों की स्फूर्ति नहीं डाल सकता तो वह इस ऊँचे पद के योग्य नहीं समझा जाता। पुराने ज़माने में धर्म के हाथ में समाज की बागडोर थी। हमारा मानसिक और नैतिक संस्कार धर्म के आदेशों का अनुगामी था। अब यह भार साहित्य ने अपने ऊपर ले लिया है। धर्म भय या लोभ

से काम लेता था। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, उसके यन्त्र थे। साहित्य हमारी सौंदर्य-भावना को सजग करने की चेष्टा करता है। मनुष्य-मात्र में यह भावना होती है। जिसमें यह भावना प्रबल होती है, और उसके साथ ही उसे प्रकट करने का सामर्थ्य भी होता है, वह साहित्य का उपासक बन जाता है। यह भावना उसमें इतनी तीव्र हो जाती है कि मनुष्य में, समाज में, प्रकृति में, जो कुछ असुन्दर, असौम्य, असत्य है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है, और वह अपनी सौंदर्यभावना से व्यक्ति और समाज में सुरुचिपूर्ण जागृति डाल देने के लिए व्याकुल हो जाता है। यों कहिए कि वह मानवता का, प्रगति का, शराफ़त का वकील है। जो दलित हैं, मर्दित हैं, ज़ख्मी हैं, चाहे वे व्यक्ति हों या समाज उनकी *हिमायत और वकालत उसका धर्म है। उसकी* अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और अदालत की सत्य और न्याय-बुद्धि और उसकी सौन्दर्य-भावना को प्रभावित करके ही वह सन्तोष प्राप्त करता है। पर साधारण वकीलों की तरह वह अपने मुवक्किल की तरफ़ से जा और बेजा दावे नहीं पेश करता, कुछ बढ़ाता नहीं, कुछ घटाता नहीं, न गवाहों को सिखाता पढ़ाता है। वह जानता है, इन हथकण्डों से वह समाज की अदालत में विजय नहीं पा सकता। इस अदालत में तो तभी सुनवाई होगी, जब आप सत्य से जौ-भर भी न हटें, नहीं अदालत उसके खिलाफ़ फैसला कर देगी और इस अदालत के सामने वह मुवक्किल का सच्चा रूप तभी दिखा सकता है, जब वह मनोविज्ञान की सहायता ले। अगर वह खुद उसी दलित समाज का एक अंग है, तब तो उसका काम कुछ आसान हो जाता है क्योंकि वह अपने मनोभावों का विश्लेषण करके अपने समाज की वकालत कर सकता है। लेकिन अधिकतर वह अपने मुवक्किल की आन्तरिक प्रेरणाओं से, उसके मनोगत भावों से अपरिचित होता है। ऐसी दशा में उसका पथ-प्रदर्शक मनोविज्ञान के सिवा कोई और नहीं हो सकता। इसलिए साहित्य के वर्तमान युग को

हमने मनोविज्ञान का युग कहा है। मानव-बुद्धि की विभिन्नताओं को मानते हुए भी हमारी भावनाएँ सामान्यतः एक रूप होती हैं। अन्तर केवल उनके विकास में होता है। कुछ लोगों में उनका विकास इतना प्रखर होता है कि वह क्रिया के रूप में प्रकट होता है वर्ना अधिकतर सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। साहित्य इन भावनाओं को सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में लाने की चेष्टा करता है। पर इस सत्य को वह कभी नहीं भूल सकता कि मनुष्य में जो मानवता और सौंदर्य-भावना छिपी हुई रहती है, वहीं उसका निशाना पड़ना चाहिए। उपदेश और शिक्षा का द्वार उसके लिए बन्द है। *हाँ उसका उद्देश्य अगर सच्चे भावावेश* में डूबे हुए शब्दों से पूरा होता है, तो वह उनका व्यवहार कर सकता है।

फिल्म और साहित्य

हमने गत मास के 'लेखक' में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक से एक छोटा सा लेख लिखा था, जिसे पढ़कर हमारे मित्र श्री नरोत्तम प्रसाद जी नागर, संपादक 'रंगभूमि' ने एक प्रतिवाद लिख भेजने की कृपा की है। हम अपने लेखको 'लेखक' से यहाँ नक्ल कर रहे हैं, ताकि पाठकों को मालूमहो जाय कि हमारे और नरोत्तमप्रसाद जी के विचारों में क्या अंतर पाठक स्वयं अपना निर्णय कर लेंगे। नागर जी का मैं कृतज्ञ हूँ, कि है। उन्होंने उस लेखको पढ़ा और उसपर कुछ लिखनेकी जरूरत समझी। वह खुद सिनेमा में सुधार के समर्थक हैं और बरसों से यह आन्दोलन कर रहे हैं, इसलिए इस विषय पर उन्हें सम्मति देने का पूरा अधिकार है। हम उनके प्रतिवाद को भी ज्यों का त्यों छापते हैं।

'लेखक' में प्रकाशित हमारा लेख

अकसर लोगों का खयाल है कि जब से सिनेमा 'सवाक्' हो गया है, वह साहित्य का अंग हो गया, और साहित्य सेवियों के लिए कार्य का एक नया क्षेत्र खुल गया है। साहित्य भावों को जगाता है, सिनेमा भी भावों को जगाता है, इसलिए वह भी साहित्य है। लेकिन प्रश्न यह होता है—कैसे भावों को ? साहित्य वह है जो ऊँचे और पवित्र भावों को जगाये, जो सुन्दरम् को हमारे सामने लाये। अगर कोई पुस्तक हमारी पशु भावनाओं को प्रबल करती है, तो हम उसे साहित्य में स्थान न देंगे। पारसी स्टेज के ड्रामों को हमने साहित्य का गौरव नहीं दिया। इसीलिए कि सुन्दरम् का जो साहित्यिक आदर्श अव्यक्त

रूप से हमारे मन में है, उसका यहाँ कहीं पता न था। हाँ, जो और कम
और बाज़ारों को हमारी पुस्तकें आये दिन हुआ करती हैं, हम उ
साहित्य नहीं कहते। पर बिकती बहुत हैं, मनोरंजन भी करती हैं,
साहित्य नहीं हैं। साहित्य में भावों की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौ
और स्वच्छता, सुन्दरता की जो भावना होती है, वह हमें यहाँ नहीं मिल
हमारा ख्याल है कि हमारे चित्रपटों में भी यह बात नहीं मिल
उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। सुरुचि या सुन्दरता से उन्हें
प्रयोजन नहीं। यह तो जनता को वही चीज़ देंगे जो वह माँगती
व्यापार, व्यापार है। वहाँ अपने नफे के सिवा और किसी बात का
करना ही वर्जित है। व्यापार में भावुकता आई और व्यापार नष्ट हु
यहाँ तो जनता की रुचि पर निगाह रखनी पड़ती है और चाहे
का संचालन देवताओं ही के हाथों में क्यों न हो, मनुष्य पर निम्न
वृत्तियों का राज्य होता है। अगर आप एक साथ दो तमाशे
व्यवस्था करें—एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो, दूसरा
वेश्या का नग्न नृत्य, तो आप देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कु
को अपना भाषण सुना रहे हैं और वेश्या के पण्डाल में तिल
को जगह नहीं। मुँह पर राम-राम मन में छुरी वाली कहावत जित
लोकप्रिय है, उतनी ही सत्य भी है। वही भोला भाला ईमानदार
जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झि
दूध में पानी मिला देता है। वही बाबूजी, जो अभी किसी कवि
सूक्ति पर सिर धुन रहे थे, अवसर पाते ही एक विधवा से रिश्वत
रुपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब में दाखिल कर लेते
उपन्यासों में भी ज्यादा प्रचार डाके और हत्या से भरी हुई पुस्त
होता है। अगर पुस्तकों में कोई ऐसा स्थल है जहाँ लेखक
की लगाम ढीली कर दी हो तो उस स्थल को लोग बड़े च
पढ़ेंगे, उस पर लाल निशान बनायेंगे, उस पर मित्रों से मुबाहसे
सिनेमा में भी वही तमाशे खूब चलते हैं, जिनसे निम्न-भावन

विशेष तृप्ति हो। वही सज्जन, जो सिनेमा की कुरुचि की शिकायत करते फिरते हैं, ऐसे तमाशों में सबसे पहले बैठे नज़र आते हैं। साधु तो गली गली भीख माँगते हैं पर वेश्याओं को भीख माँगते किसी ने न देखा होगा। इसका आशय यह नहीं कि ये भिखमंगे साधु वेश्याओं से ऊँचे हैं—लेकिन जनता की दृष्टि में वे श्रद्धा के पात्र हैं। इसीलिये हर एक सिनेमा प्रोड्यूसर, चाहे वह समाज का कितना बड़ा हितैषी क्यों न हो, तमाशे में नीची मनोवृत्तियों के लिए काफी मसाला रखता है नहीं तो उसका तमाशा ही न चले। बम्बई के एक प्रोड्यूसर ने ऊँचे भावों से भरा हुआ एक खेल तैयार किया, मगर बहुत हाय हाय करने पर भी जनता उसकी ओर आकर्षित न हुई। 'पास' के अन्धाधुन्ध वितरण से रुपये तो नहीं मिलते। आमन्त्रित सज्जनों और देवियों ने तमाशा देखकर मानों प्रोड्यूसर पर एहसान किया और बखान करके मानो उसे मोल ले लिया। उसने दूसरा तमाशा जो तैयार किया, वह वही बाजारू ढंग का था और वह खूब चला। पहले तमाशे से जो घाटा हुआ था, वह इस दूसरे तमाशे से पूरा हो गया। जिस शौक से लोग शराब और ताड़ी पीते हैं, उसके आधे शौक से दूध नहीं पीते। 'साहित्य' दूध होने का दावेदार है, सिनेमा, ताड़ी या शराब की भूख का शान्त करता है। जब तक साहित्य अपने स्थान से उतर कर और अपना चोला बदलकर शराब न बन जाय, उसका वहाँ निर्वाह नहीं। साहित्य के सामने आदर्श है, संयम है, मर्यादा है। सिनेमा के लिये इसमें से किसी वस्तु की जरूरत नहीं। सेंसर बोर्ड के नियन्त्रण के सिवा उस पर कोई नियन्त्रण नहीं। जिसे साहित्य की 'सनक' है वह कभी कुरुचि की ओर जाना स्वीकार न करेगा। मर्यादा की भावना उसका हाथ पकड़े रहती है, इसलिए हमारे साहित्यकार के लिये, जो सिनेमा में हैं, वहाँ केवल इतना ही काम है कि वे डाइरेक्टर साहब के लिखे हुए गुजराती, मराठी या अंग्रेजी कथोपकथन को हिन्दी में लिख दें। डाइरेक्टर जानता है कि सिनेमा के लिए जिस 'रचना कला' की जरूरत

है वह लेखकों में मुश्किल से मिलेगी; इसलिए वह लेखकों से केवल उतना ही काम लेता है जितना वह बिना किसी हानि के ले सकता है। अमेरिका और अन्य देशों में भी साहित्य और सिनेमा में सामञ्जस्य नहीं हो सका और न शायद हो ही सकता है। साहित्य जन-रुचि का पथ-प्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जन रुचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ माँगे वही देता है। साहित्य हमारी सुन्दर भावना को स्पर्श करके हमें आनन्द प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओं को स्पर्श करके हमें मतवाला बनाता है और इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज की माँग है, वह बाजार में आएगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जायगी कि वह नीचे ले आने वाली चीजों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।

हिन्दी के कई साहित्यकारों ने सिनेमा पर निशाने लगाये लेकिन शायद ही किसी ने मछली बेध पाई हो। फिर गले में जयमाल कैसे पड़ता! आज भी पंडित नारायण प्रसाद बेताब, मुन्शी गौरीशंकर लाल अख्तर, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, मि० जमना प्रसाद कारयर, मि० चन्द्रिका प्रसाद श्रीवास्तव, डाक्टर धनीराम प्रेम, सेठ गोविन्ददास, पंडित द्वारका प्रसाद जी मिश्र आदि सिनेमा की उपासना करने में लगे हुए हैं। देखा चाहिए सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की काया-पलट कर देते हैं!

श्री नरोत्तम प्रसाद जी की चिट्ठी

श्रद्धेय प्रेमचन्द जी,

'लेखक' में आपका लेख 'फिल्म और साहित्य' पढ़ा। इस चीज को लेकर रंगभूमि में अच्छी खासी कन्ट्रोवर्सी चल चुकी है। रंगभूमि के वे

अंक आपको भेजे भी गए थे। पता नहीं आपने उन्हें देखा कि नहीं। अस्तु।

आपने सिनेमा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह ठीक है। साहित्य को जो स्थान दिया है, उससे भी किसी का मतभेद नहीं हो सकता। निश्चय ही सिनेमा ताड़ी और साहित्य दूध है; पर इस चीज़ को जेनेरलाइज़ करना ठीक न होगा। सिनेमा के लिए भी और साहित्य के लिए भी। साहित्य भी इसी ताड़ीपन से अछूता नहीं है। सिनेमा को मात करने वाले उदाहरण भी उसमें मिल जायेंगे—एक नहीं अनेक। और ऐसे व्यक्तियों के जिनको कि साहित्यिक संसार ने रिकग्नाइज़ किया है। और तो और, पाठ्यकोर्स तक में जिनकी पुस्तकें हैं। अपने समर्थन में महात्मा गान्धी के वे वाक्य उद्धृत करने होंगे क्या, जो कि उन्होंने इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहे हैं? लेकिन प्रत्यक्ष किम् प्रमाणम्। यही बात सिनेमा के साथ है। सिनेमा के साथ तो एक और भी गड़बड़ है। वह यह कि बदनाम है। आपके ही शब्दों में भिखमंगे साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए भी श्रद्धा के पात्र हैं। श्रद्धा के पात्र हैं, इसलिए टालरेबुल हैं या उतने विरोध के पात्र नहीं हैं, जितने कि वेश्याएँ। इसी तर्क शैली को लेकर आप सिद्ध करते हैं कि सिनेमा ताड़ी है और साहित्य दूध। ताड़ी ताड़ी है और दूध दूध। आपने इन दोनों के दर्मियान एक वेल मार्क्ड एन्ड वेल डिफाइन्ड लाइन आफ डिफरेन्स खींच दी है।

मेरा आपसे यहाँ सैद्धान्तिक मतभेद है। मेरा ख्याल है कि यह विचारधारा ही गलत है, जो इस तरह की तर्क शैली को लेकर चलती है। कभी जमाना था, जब इस तर्क शैली का ज़ोर था, सराहना थी पर अब नहीं है। इस चीज को हमें उखाड़ फेंकना ही होगा।

एक जगह आप कहते हैं कि साहित्य का काम जनता के पीछे चलना नहीं, उसका पथप्रदर्शक बनना है। आगे चलकर आप साधु और वेश्याओं की मिसाल देते हैं। साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए

भी जनता की श्रद्धा के पात्र हैं। यहाँ आप जनता
अपने समर्थन में आगे क्यों रखते हैं।

आपने जो साहित्य के उद्देश्य गिनाये हैं, उन्हें पू
साहित्य से कहीं आगे जाने का क्षमता रखता है। चूंकि
से सिनेमा साहित्य से कहीं अधिक ग्राह्य है; लेकिन यह
सिनेमा की उपयोगिता कुपात्रों के हाथों में पड़कर
परिणत हो रही है। इसमें दोष सिनेमा का नहीं, उ
हाथ में इसकी बागडोर है। इनसे भी अधिक उनका
को बर्दाश्त करते हैं। बर्दाश्त करना भी बुरा नहीं होत
साथ मजबूरी की शर्त न लगी होती।

गले में जयमाल पड़ने वाली बात भी बड़े मजे की है-
साहित्यिकों ने निशाने लगाये पर शायद ही कोई मछली बेध
जयमाल गले में कैसे पड़ती!' बहुत खूब। जिस चीज़
साहित्यिकों ने सिनेमा पर निशाने लगाये, वह चीज़ क्या
मिली---अपवाद को छोड़कर! आप या कोई और साहित्यिक
की कृपा करेंगे कि सिनेमा में प्रवेश करने वाले साहित्यिकों मे
कौन है, जिसके सिनेमा प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अ
में रंगना रहा हो! क्या किसी भी साहित्यिक ने सिन्सीयरली इ
कुछ काम किया है! फिर जयमाल गले में कैसे पड़ती! मा
साहित्य संसार में जयमाल और सम्राट् की उपाधियाँ टके सेर बिक
लेकिन सभी जगह तो इन चीजों का यही भाव नहीं है। पहले सि
जगत को कुछ दीजिए, या यों ही गले में जयमाल पड़ जाये! या
साहित्यिक होना ही गले में जयमाल पड़ने का क्वालिफिकेशन है!

आप बम्बई में रह चुके हैं। सिनेमा-जगत की आपने झांकी
ली है। आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हमारे साहित्यिक म
अपनी फिल्मों में निर्दिष्ट रुचि का समावेश करने में किसी से पीछे नहीं
रहे हैं। या कहें कि आगे ही बढ़ गये हैं। औरों को छोड़ दीजिए

उत्तर—नहीं, मुझे यह पसन्द नहीं है। मैं फ़ांसीसी शैली को अच्छा समझता हूँ। किसी एक चरित्र को अपना मुख्य-पात्र बना कर लिखता हूँ और जो कुछ सोचता या अनुभव करता हूँ सब उसी के मुख से कहला देता हूँ। इससे कहानी में यथार्थता आ जाती है।

प्रश्न—लेखकों के विषय में, अन्तःप्रेरणा के विषय में आपका क्या विचार है?

उत्तर—मैं तो अन्तःप्रेरणा को मानसिक दशा समझता हूँ। प्रत्येक कहानी, लेखक के मन का ही प्रतिबिम्ब होती है। भावों में तीव्रता और गहराई पैदा करने के लिए प्रबल भावावेश होना चाहिए। यदि ऐसा आवेश न हो, तो भी गल्प के विषय को बार-बार सोचकर मन में उन्हीं बातों की निरन्तर कल्पना करके हम अपने भावों में तीव्रता उत्पन्न कर सकते हैं। मुझे किसी कहानी का शुरू करना बहुत कठिन मालूम होता है; लेकिन एक बार शुरू कर देने के बाद उसे अधूरा नहीं छोड़ता।

इसके बाद और भी कुछ सवाल-जवाब हुए, जिनमें मि० ओपेन-हाइम ने बताया कि वह कहानी लिखने के पहले उसका कोई खाका नहीं तैयार करते, केवल उसका अन्त और उसका उद्देश्य सोच लेते हैं। गल्प के प्रारंभ में आप ने बताया कि उसे चाहे जिस रूप में रखिए—वाक्य हो या संभाषण, कोई घटना हो या कल्पना, चाहे कोई अनुभूति या विचार हो—जो कुछ हो, उसमें मौलिकता, नवीनता और अनोखापन हो। वह सामान्य, लचर, सौ बार की दुहराई हुई बात न हो। अन्त में आपने कहा कि गल्प-रचना में भी अन्य कलाओं की भाँति अभ्यास से सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

समाचारपत्रों के मुफ्तख़ोर पाठक

जहाँ विदेश से निकलनेवाले पत्रों के लाखों ग्राहक होते हैं
हमारे अच्छे से अच्छे भारतीय पत्र के ग्राहकों की संख्या कुछ हजा
अधिक नहीं होती। यह एक विचारणीय बात है। जापान का ही
उदाहरण लीजिये। यह तो सबको मालूम है कि जापान भारतवा
षष्टमांश ही है, फिर भी जहाँ भारत से कुल ३५०० पत्र प्रकाशित
हैं, वहाँ जापान से ४५००, और यह ४५०० भी ऐसे पत्र हैं जि
प्रकाशन की संख्या हजारों नहीं लाखों की है। 'ओसाका मेनीची'
का एक दैनिक पत्र है। उसके कार्यालय की इमारत ही तैंतीस ल
रुपये की है। 'ओसाका ओसाही' और 'टोकियो नीची' नामक
पत्र भी इसी कोटि के हैं। एक-एक पत्र के कार्यालय में दो तीन ह
तक आदमी काम करते हैं और उनका जाल संसार भर में फैला हु
है। जिस पत्र के कार्यालय में चार छः सौ आदमी काम करते हैं, उस
तो वहाँ कोई गणना ही नहीं होती। कई पत्र तो वहाँ ऐसे हैं जो पच
लाख तक छापे जाते हैं और दिन में जिनके आठ-आठ संस्कर
निकलते हैं और जिनको वितरण करने के लिए हवाई जहाजों से का
लिया जाता है। यह है जापानी पत्रों का वैभव। और इस वैभव
कारण है वहाँ की शिक्षित जनता का पठन प्रेम और सहयोग। वहाँ
प्रत्येक पाँच आदमियों में आपको एक आदमी अखबार पढ़ने वाल
अवश्य मिलेगा। पूंजीपति से लेकर मजदूर तक, बूढ़े से लेकर छोटे बा
तक, पत्रों को स्वयं खरीद कर पढ़ते हैं। फ़ुरसत के समय को वे लो

बेकार के हँसी-मजाक, खिलवाड़ या गाली-गलौज में नहीं, अख़बारों के पढ़ने में बिताते हैं। जिस प्रकार वे अपनी शारीरिक भूख के लिए अन्न को आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार वे अपनी आत्मा की भूख के लिए पत्रों को ख़रीदकर पढ़ना जरूरी समझते हैं। उन्होंने पत्रों को पढ़ना अपना एक अटल नियम बना रखा है। जो मनुष्य जिस रुचि का होता है, अपनी रुचि के पत्र का ग्राहक बन जाता है और उस पत्र से अपना ज्ञान-वर्द्धन और मनोरंजन करता है। वहाँ के लोग पत्रों को ख़रीद कर पढ़ते हैं। कहीं से माँगकर नहीं लाते। वे दूसरों के अख़बार को जूठन समझते हैं। यही कारण है कि वहाँ के पत्रों के ग्राहकों की संख्या पचास लाख तक है। जब हम यह समाचार पढ़ते हैं और भारतीय पत्रों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं। कहते हैं विदेश के लोग पत्र निकालना जानते हैं। वे लोग शिक्षा में और सभी बातों में हमसे आगे बढ़े हुए हैं। उनके पास पैसा है। यह सभी बातें सही हो सकती हैं। किन्तु भारतीय पत्रों की प्रकाशन संख्या न बढ़ने का केवल यही कारण नहीं है कि भारतीय विद्वान पत्र निकालना नहीं जानते, वे शिक्षा में पिछड़े हुए हैं और पत्रों को ख़रीदने के लिए भारतीय जनता के पास पैसा नहीं है। यह दलीलें कुछ अंशों में ठीक हो भी सकती हैं; पर भारतीय पत्रों के न पनपने का एक और भी प्रबल कारण है।

हमारे यहाँ ऐसे लाखों मनुष्य हैं, जो पैसे वाले हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, जो शिक्षित हैं, और जिन्हें पत्रों को पढ़ते रहने का शौक भी है। पर वे लोग मुफ़्तख़ोर हैं। पत्रों के लिए पैसा खर्च करना वे पाप समझते हैं। या तो पत्रों को खोज-खाजकर अपने मित्रों और परिचित लोगों के यहाँ से ले आयेंगे, या लाइब्रेरियों में जाकर देख आयेंगे। लेकिन उनके लिए पैसा कभी न खर्च करेंगे। सोचते हैं जब तिकड़मबाजी से ही काम चल जाता है तो व्यर्थ पैसा कौन खर्च करे। यह दशा ऐसे लोगों की है जो हजारों का व्यवसाय करते हैं और ब्याज

शादी या ओसर मोसर में अंधे बनकर धन व्यय करते रहते हैं। ये लोग बीड़ी और सिगरेट में, पान और तम्बाकू में, नाटक और सिनेमा में, लाटरी और शुए में, चाय और काफी में और विविध प्रकार के दुर्व्यसनों में अपनी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा फूंक सकते हैं; किन्तु पत्रों के लिए एक पाई भी खर्च नहीं कर सकते। जीभ के स्वाद के लिए बाजारों में मीठी और नमकीन चीजों पर ये लोग रुपये खर्च कर सकते हैं पर पत्रों को भूलकर भी नहीं खरीद सकते। इसके विपरीत, खरीदनेवालों को मूर्ख समझते हैं, यद्यपि उन्हीं की जूठन से इनका काम चलता है। अगर बहुत हिम्मत की तो किसी लाइब्रेरी के मेम्बर बन गये और लाइब्रेरियन को अपनी मीठी बातों में फंसाकर नियम के विरुद्ध अनेक पुस्तकें और पत्र पढ़ने के लिए ले गये। और भाग्यवश यदि किसी लेखक से परिचय हो गया, या अपनी तिकड़म से किसी पत्र सम्पादक को साध लिया तो कहना ही क्या, कारूँ का खजाना उन्हें मिल गया। इस प्रकार ये लोग अपना मतलब निकाल लेते हैं। इससे आगे बढ़ना ये लोग मूर्खता समझते हैं। भारतीय पत्रों के प्रति इन लोगों के प्रेम, कर्त्तव्य पालन और सहानुभूति का कितना सुन्दर उदाहरण है! क्या ऐसा सुन्दर उदाहरण आपको संसार के किसी भी देश में मिल सकेगा? धन्य हैं ये लोग और धन्य है अपनी भाषा के प्रति इनका अनुराग!

इन लोगों की यही दुवृत्ति भारतीय पत्रों के जीवन को सदैव संकट में डाले रहती है। यह लोग जरा भी नहीं सोचते कि यह प्रवृत्ति समाचार पत्रों के लिए कितनी भयानक और हानिकर सिद्ध हो सकती है। इनकी इस प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय पत्र पनपने नहीं पाते। जहाँ विदेशी पत्रों की निजी इमारतें लाखों रुपयों की होती हैं और उनके कार्यालयों में हजारों आदमी काम करते हैं, वहाँ हमारे भारतीय पत्रों के कार्यालय किराये के, साधारण, या टूटे फूटे मकानों में होते हैं और कहीं कहीं तो उनमें काम करने वाले मनुष्यों की संख्या एक दर्जन भी नहीं होती। नाम मात्र के लिए कुछ इने गिने पत्र ही ऐसे हैं जिनके कार्यालय

में काम करने वाले दो सौ के लगभग या कुछ ही अधिक हो। ऐसे लोगों की कृपा के कारण ही भारतीय पत्रों का यह हाल है। कहीं-कहीं तो बेचारा एक ही आदमी सम्पादक, मुद्रक, व्यवस्थापक, प्रकाशक और प्रूफरीडर है। संसार के लिए यह बात नयी और आश्चर्यजनक है। यह सब इन भारतीय मुफ्तखोर पाठकों की कुवृत्ति का ही परिणाम है, लेकिन अब इन मुफ्तखोर तथा अपनी भाषा के साथ अन्याय करने वालों को कुछ लज्जा आनी चाहिए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि वे लोग भारतीय पत्रों का गला घोंट रहे हैं और उन्हें संसार के उपहास और व्यंग की एक वस्तु बना रहे हैं। जब कि ये लोग बड़ी-बड़ी रकमें व्यर्थ के कामों में फूँक सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि ये अपने देशीय पत्रों के लिए एक छोटी सी रकम खर्च करके उनके प्राणों की रक्षा न कर सकें।

जापान में पुस्तकों का प्रचार

मि० ग्लिन शा ने जापानी साहित्य के अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किये हैं। आपने हिसाब लगाया है कि जापान इस समय संसार में सबसे अधिक पुस्तकें प्रकाशित करने वाला देश है। जापान के बाद सोवियट रूस, जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैंड, पोलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क्रम से नम्बर आता है। जापान की आबादी अमेरिका की आधी से ज्यादा नहीं पर हर साल वह अमेरिका से दुगुनी किताबें छापता है।

इस समय जापानी साहित्य की रुचि राष्ट्रीयता की ओर विशेष रूप से हो रही है। इतिहास, साहित्य, धर्म, युद्धनीति आदि सभी अंगों में यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि बौद्ध धर्म विषय की ओर यकायक लोगों में बड़ी दिलचस्पी हो गई है। हालांकि यह किसी धार्मिक अनुराग का नतीजा नहीं, केवल राष्ट्र आन्दोलन का ही एक भाग है।

गत वर्ष जापान में दस हजार से ज्यादा पुस्तकें निकलीं। इनमें से २७०० शिक्षा विषयक, २५०० साहित्य, १६०० अर्थनीति, २०० काव्य, और १००० गृह प्रबन्ध विषय की थीं। शिक्षा विषयक पुस्तकों की संख्या ही सबसे ज्यादा थी। इससे मालूम होता है जापान अपने राष्ट्र के निर्माण में कितना उद्योगशील है; क्योंकि शिक्षा ही राष्ट्र की जड़ है। गृह प्रबन्ध की ओर भी उनका ध्यान कितना ज्यादा है। भारत में तो इस विषय की पुस्तकें निकलती ही नहीं, और निकलती भी हैं, तो बिकती नहीं। इस विषय में भी कुछ नई बात कही जा सकती है, कुछ नई अनुभूतियाँ संग्रह की जा सकती हैं—यह शायद हम सम्भव नहीं समझते। जो घर सम्राज कहलाते

हैं, उनमें भी पहुँच जाइए तो आपको मालूम होगा कि एक हजार माह-वार खर्च करके भी यह लोग रहना नहीं जानते। न कोई बजट है, न कोई व्यवस्था। अलल्लटप्पू खर्च हो रहा है। जरूरी चीजों की ओर किसी का ध्यान नहीं है, बिना जरूरत की चीजें ढेरों पड़ी हुई हैं। कपड़े कीड़े खा रहे हैं, फर्नीचर में दीमक लग रही है, किताबों में नमी के कारण फफूँदी लग गई है। किसी की निगाह इन बातों की तरफ नहीं जाती। नौकरों का वेतन नहीं दिया जाता। मगर कपड़े बेजरूरत खरीद लिये जाते हैं। यह कुव्यवस्था इसीलिए है कि इस विषय में हम उदासीन हैं।

जापान के अधिकांश साहित्यकार टोकियो में रहते हैं। उसमें छः सौ से अधिक ऐसे हैं जिनके नाम जापान भर में प्रसिद्ध हैं। मगर जापान में लेखकों को ज्यादा पुरस्कार नहीं मिलता।

जापान में साहित्य रचना के भिन्न भिन्न आदर्श हैं। कोई स्कूल जन-साधारण की रुचि की पूर्ति करना ही अपना ध्येय मानता है। तीशू ढंगी स्कूल सबसे प्रसिद्ध है। ये लोग पुरानी कथाओं को नई शैली में लिख रहे हैं, यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों में भी इसी रंग के अनुयायी अधिक हैं।

एक दूसरा स्कूल है जो कहता है, हम जन साधारण के लिए पुस्तकें नहीं लिखते, हमारा ध्येय साहित्य की सेवा है। इनका आदर्श है कला कला के लिए।

एक तीसरा दल है जो केवल दार्शनिक विषयों का ही भक्त है। यह लोग अपनी गल्पों के प्लाट भी दर्शन और विज्ञान के तत्वों से बनाते हैं। उनके चरित्र भी प्रायः वास्तविक जीवन से लिये जाते हैं।

रुचि की विभिन्नता

इस विषय में पुस्तक-विक्रेताओं ने बड़े महत्व की बातें कही हैं। जिससे भिन्न-भिन्न श्रेणियों और जातियों की साहित्यिक प्रवृत्ति का ठीक पता चल जाता है। उनका कहना है कि स्त्रियों को सरस साहित्य से विशेष प्रेम है, और मर्दों को गम्भीर साहित्य से। नये पुस्तकालयों में नये-से-नये उपन्यासों ही की प्रधानता होती है और ये पुस्तकालय स्त्रियों की ही कृपा दृष्टि पर चलते हैं। पुराने ढंग के पुस्तकालयों के ग्राहक अधिकतर पुरुष होते हैं, और उनमें भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें संग्रह की जाती हैं। हिन्दुस्तानी और युरोपियन महिलाओं की रुचि में भी बड़ा अन्तर है। यहाँ की देवियाँ उपयोगी विषयों की पुस्तकें पढ़ती हैं, जैसे पाकशास्त्र या गृह विज्ञान या शिशु-पालन आदि। इसके खिलाफ यूरोपियन स्त्रियां कथा कहानी, शृंगार और फैशन की पुस्तकों से ज्यादा प्रेम रखती हैं। दोनों जातियों के मनुष्यों की रुचि में भी अंतर है। युरोपियनों को मामूली तौर से कथा अधिक प्रिय है, हिन्दुस्तानियों को अर्थशास्त्र, जीवन-चरित्र, नीति विज्ञान आदि विषयों से ज्यादा प्रेम है। कुछ नवीनता के परम भक्त युवकों को छोड़कर हिन्दुस्तानियों में शायद ही कोई उपन्यास मोल लेता हो।

युरोपियन स्त्री पुरुषों का किस्से कहानी से प्रेम होना इसका प्रमाण है कि वह सम्पन्न हैं और उन्हें अब उपयोगी विषयों की आवश्यकता नहीं रही। जिसके सामने जीवन का प्रश्न इतना चिन्ताजनक नहीं है, वह क्यों न प्रेम और विलास की कथाएँ पढ़कर मन बहलाये। यह देख-

कर कि हिन्दुस्तानियों को गम्भीर विषयों से अधिक रुचि है, यह कहा जा सकता है कि हमारी रुचि अब प्रौढ़ हो रही है। लेकिन हिन्दी के प्रकाशकों से पूछा जाय, तो शायद वे कुछ और ही कहें। हिन्दी में गम्भीर साहित्य की पुस्तकें बहुत कम बिकती हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि जिन्हें गम्भीर साहित्य से प्रेम है, वे अंग्रेजी पुस्तकें खरीदते हैं। कथा-कहानियाँ कुछ ज्यादा बिक जाती हैं शायद इसलिए कि भारतीय जीवन का चित्रण हमें अंग्रेजी पुस्तकों में नहीं मिलता, नहीं शायद कोई हमारे हिन्दी उपन्यास और कहानियों को भी न पूछता। एक कारण यह भी हो सकता है कि उपन्यास और कहानियों के लिए किसी विशेष योग्यता की जरूरत नहीं समझी जाती। जिसके हाथ में कलम है वही उपन्यास लिख सकता है। लेकिन दर्शन या अर्थशास्त्र या ऐतिहासिक विवेचन पर कलम उठाने के लिए विद्वत्ता चाहिए। और जो लोग विद्वान हैं, वे अंग्रेजी में लिखना ज्यादा पसन्द करते हैं, क्योंकि अंग्रेजी का क्षेत्र विस्तृत है। वहां यश भी अधिक मिलता है और धन भी।

———

प्रेम-विषयक गल्पों से अरुचि

जनता की साहित्यिक रुचि के विषय में बुकसेलरों से अच्छी
कारी शायद ही किसी को होती हो। और लोग अकलीगदा लगा
बुकसेलर को इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अभी थोड़े दि
एक समाचारपत्र ने कई बड़े-बड़े बुकसेलरों से पूछा था कि आ
आप लोगों के यहाँ किस विषय की पुस्तकों की ज्यादा माँग है। इ
बुकसेलरों ने जो उत्तर दिया, उसका सारांश यों है :

'जहाँ तक पुस्तकों की बिक्री का सम्बन्ध है, कल्पना साहित्य
आसानी से प्रथम स्थान ले लेता है। कहानियों के संग्रह, उप
नाटक और कई विख्यात लेखकों के निबन्ध—यह सब इसी श्रेणी मे
जाते हैं। लेकिन प्रेम-विषयक और शृङ्गारपूर्ण रचनाओं की अब
खपत नहीं रही, जितनी कई साल पहले थी। क्या इसका मतलब य
कि प्रेम-कथाओं और कामोत्तेजक विषयों में लोगों की दिलचस्पी
होती जा रही है? नहीं। प्रेम और काम सम्बन्धी साहित्य में लोगों
रुचि बढ़ रही है। हाँ, अब जनता को केवल भावुकता और विकलत
सन्तोष नहीं होता, प्रेम और विवाह आदि का वह वास्तविक
तात्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, और इस तरह के साहित्य की
बढ़ रही है। उपन्यासों में भी 'सेक्स' सम्बन्धी समस्याओं की च
केवल विरह और मिलन तक नहीं रहती, गृहस्थी और विवाह पर
नवीन और विचार-पूर्ण ढंग से विचार किया जाने लगा है। प्रेम
मधुर कल्पनाओं से हटकर जन-रुचि विवाह और घर और नर-नारी

असली जीवन की ओर अधिक झुका हुआ है। जनता केवल कविता नहीं चाहती, गम्भीर-विचार और वैज्ञानिक प्रकाश चाहती है। विनोद-पूर्ण साहित्य और रोमांचकारी जासूसी कहानियों की ओर जनता का प्रेम ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। पी० जी० वुडहाउस और थार्न स्मिथ की हास्य कथाओं का बहुत अच्छा प्रचार है। आम तौर पर जो यह ख्याल है कि ऊँची श्रेणी के लोगों में घासलेटी साहित्य और रक्त और हत्या से भरी हुई कथाओं का विशेष प्रचार है—कम-से-कम हिन्दुस्तान में उसकी पुष्टि नहीं होती।'

साहित्य में ऊंचे विचार की आवश्यकता

रूस में हाल में साहित्यकारों में एक बड़े मजे की बहस ि
विषय था—साहित्य का उद्देश्य क्या है ? लोग अपनी अपनं
थे। कोई कहता था—साहित्य सत्य की खोज का नाम है। कोई
को सुन्दर की खोज कहता था। कोई कहता था—वह जीवन प
चना है। कोई उसे जीवन का चित्रण मात्र बतलाता था।
जब यह झगड़ा न तय हुआ तो सलाह हुई कि किसी गंवार
जाय कि वह साहित्य को क्या समझता है। आखिर यह जत्था
की खोज में निकला। दूर न जाना पड़ा। चन्द ही कदम
मजदूर कन्धे पर फावड़ा रखे, पसीने में तर आता हुआ दिखाई
एक साहित्य महारथी ने उससे पूछा—क्यों भाई तुम साहित्य कि
पढ़ते हो ! मजदूर ने उन विद्वज्जनों की ओर विस्मय दृष्टि से
ऐसी मोटी-सी बात भी इन लोगों को नहीं मालूम। देखने में
पढ़े लिखे से लगते हैं। समझा, शायद यह लोग उसका मजा
रहे हैं। बिना कुछ जवाब दिये आगे बढ़ा। तुरन्त फिर वही
हुआ—क्यों भाई, तुम साहित्य किस लिए पढ़ते हो ?

मजदूर ने अबकी कुछ जवाब देना आवश्यक समझा। क
लोग उसकी परीक्षा न ले रहे हों। तैयार छात्र की भांति तत्प
बोला—जीवन की सच्ची विधि जानने के लिए। इस उत्तर ने
को मस्त कर दिया। साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर
उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम कदम पर

वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या। जीवन की आलोचना कीजिए चाहे चित्र खींचिए, आर्ट के लिए लिखिए चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए—अगर उससे हमें जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता, तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है, न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।

रूसी साहित्य और हिन्दी

उपन्यास और गल्प के क्षेत्र में, जो गद्य-साहित्य के मुख्य अंग हैं, समस्त संसार ने रूस का लोहा मान लिया है, और फ्रान्स के सिवा और कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है, जो इस विषय में रूस का मुक़ाबला कर सके। फ्रान्स में बालज़ाक, अनातोल फ्रान्स, रोमा रोलाँ, मोपासाँ आदि संसार प्रसिद्ध नाम हैं, तो रूस में टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनीव, चेखाव, डास्टावेस्की आदि भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, और संसार के किसी भी साहित्य में इतने उज्ज्वल नक्षत्रों का समूह मुशकिल से मिलेगा। एक समय था कि हिन्दी में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। हिन्दी और उर्दू दोनों ही रेनाल्ड की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने को धन्य समझ रहे थे। डिकेंस, थैकरे, लैम्ब, रस्किन आदि को किसी ने पूछा तक नहीं। पर अब जनता की रुचि बदल गई, और यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो चोरी, ज़िना और डाके आदि के वृत्तान्तों में आनन्द पाते हैं लेकिन साहित्य की रुचि में कुछ परिष्कार अवश्य हुआ है और रूसी साहित्य से लोगों को कुछ रुचि हो गई है। आज चेखाव की कहानियाँ पत्रों में बड़े आदर से स्थान पाती हैं और कई बड़े-बड़े रूसी उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है। टालस्टाय का तो शायद कोई बड़ा उपन्यास ऐसा नहीं रहा, जिसका अनुवाद न हो गया हो। गोर्की की कम से कम दो पुस्तकों का अनुवाद निकल चुका है। तुर्गनीव के Father & Son का 'पिता और पुत्र' के नाम से अभी हाल में दिल्ली से अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टालस्टाय की 'अन्ना' का अनुवाद काशी

ने प्रकाशित हुआ है। डास्टावेस्की की एक पुस्तक का अनुवाद निकल चुका है। इस बीच में अंग्रेजी या फ्रेंच साहित्य की कदाचित् एक भी पुस्तक का अनुवाद नहीं हुआ। जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया, जिस पर चलकर आज वह दुखी संसार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएँ क्यों न आदर पायें!

शिरोरेखा क्यों हटानी चाहिए ?

नागरी लिपि समिति ने जितने उत्साह और योग्यता के अपनी कठि
जिम्मेदारियों को पूरा करना शुरू किया है, उससे आशा होती है कि
निकट भविष्य में ही शायद हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर लें। और ह
की बात है, कि समिति के प्रस्तावों और आदेशों का उतना विरोध नहीं
हुआ, जितनी कि शंका थी। राष्ट्रीय एकीकरण हमें इतना प्रिय हो गया
है कि उसके लिए हमसे जो कोई भी माकूल बात कही जाय, उसे मानने
के लिए हम तैयार हैं। शिरोरेखा के प्रश्न को भी समिति ने जिस
खूबसूरती से हल किया है, उसे प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। शिरो-
रेखा नागरी अक्षरों का कोई आवश्यक अंग नहीं। जिन ब्राह्मी अक्षरों
से नागरी का विकास हुआ है, उन्हीं से बंगला, तामिल, गुजराती आदि
का भी विकास हुआ है; मगर शिरोरेखा नागरी के सिवा और किसी
लिपि में नहीं। हम बचपन से शिरोरेखा के आदी हो गये हैं और
हमारी कलम जबर्दस्ती, अनिवार्य रूप से ऊपर की लकीर खींच देती है;
लेकिन अभ्यास से यह कलम काबू में की जा सकती है। इसमें तो कोई
सन्देह नहीं कि शिरोरेखा का परित्याग करके हम अपने लेखक की चाल
बहुत तेज कर सकेंगे और उसकी मन्द गति की शिकायत बहुत कुछ
मिट जायगी और छपाई में तो कहीं ज्यादा सहूलियत हो जायगी। रही
यह बात कि बिना शिरोरेखा के अक्षर मुंडे और सिर-कटे से लगेंगे,
तो यह केवल भावुकता है। जब आंखें बेरेखा के अक्षरों की आदी हो
जायँगी, तो वही अक्षर सुन्दर लगेंगे और हमें आश्चर्य होगा कि हमने
इतनी सदियों तक क्यों अपनी लिपि के सिर पर इतना बड़ा व्यर्थ का
बोझ लादे रखा।

दन्तकथाओं का महत्व

गत ७ अगस्त को मास्को में सोवियत के सभी साहित्यिकों की एक [illegible]राट् सभा हुई थी जिसके सभापति संसार प्रसिद्ध मैक्सिम गोर्की थे। [illegible]स अवसर पर मैक्सिम गोर्की ने जो भाषण दिया, वह विषय और [illegible]सके निरूपण और मौलिक विचारों के लिहाज़ से बड़े महत्व का था। [illegible]ापने दन्तकथाओं और ग्राम्य गीतों को बिलकुल एक नए दृष्टिकोण [illegible] देखा जिससे इन कथाओं और गीतों का महत्व सैकड़ों गुना बढ़ा दिया [illegible]। ग्राम्य साहित्य और पौराणिक कथाओं में बहुधा मानव जीवन के [illegible]ादिकाल की कठिनाइयों घटनाओं और प्राकृतिक रहस्यों का वर्णन है। [illegible]म से कम हमने अब तक ग्राम्य साहित्य को इसी दृष्टि से देखा है। मैक्सिम गोर्की साहब और गहराई में जाते हैं और यह नतीजा निकालते हैं कि 'यह उस उद्योग का प्रमाण है, जो पुराने ज़माने के मज़दूरों को अपनी मेहनत की थकावट का बोझा हलका करने, थोड़े समय में ज़्यादा काम करने, अपने को दो या चार टाँगों वाले शत्रुओं से बचाने और मन्त्रों द्वारा दैवी बाधाओं को दूर करने के लिए करना पड़ा।'

पुराणों और दन्तकथाओं में जो देवी देवता आते हैं, वह सभी स्वभाव में मनुष्यों के से ही होते हैं। उनमें भी ईर्षा, द्वेष और क्रोध, प्रेम और अनुराग आदि मनोभाव पाये जाते हैं जो सामान्य मनुष्यों में हैं। इस दलील से यह बात गलत हो जाती है कि ये देवी-देवता केवल ईश्वर के भिन्न रूप हैं, अथवा मनुष्य ने जल, अग्नि, मेघ आदि से बचने के लिए उन्हें देवता का रूप देकर पूजना शुरू किया। मैक्सिम

था सैलानी देवताओं की सृष्टि करने वाले मजदूर नहीं हो सकते। ये देवता तो उस वक्त बने हैं, जब मजदूरों पर धन का प्रभुत्व हो चुका था और जमीन पर कुछ लोग अधिकार जमाकर राजा बन बैठे थे। यहाँ तो सभी पुराण आत्मवाद और आदर्शवाद से भरे हुए हैं। लेकिन, मैक्सिम गोर्की ने दिखाया है कि ईसा के पूर्व जो प्रतिमावादी थे, उनमें आत्मवाद का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। आत्मवाद, जिसका सबसे पहले योरप में प्लेटो ने प्रचार किया, वास्तव में मजदूर समाज की देव कथाओं का ही एक परिवर्तित रूप था और जब ईसा ने अपने धर्म का प्रचार किया, तो उनके अनुयायियों ने प्राचीन यथार्थवाद के बचे-खुचे चिन्हों को भी मिटा डाला और उसकी जगह भक्ति और प्रार्थना और रहस्यवाद की स्थापना की, जिसने आज तक जनता को सम्मोहित कर रखा है, और मानव जाति की विचार शक्ति का बहुत बड़ा भाग मुक्ति और पुनर्जन्म और विधि के मामलों में पड़ा हुआ है, जिससे न व्यक्ति का कोई उपकार होता है, न समाज का।

ग्राम्य गीतों में समाज का चित्र

प्रत्येक समाज में धर्म और आचरण की रक्षा जितनी ग्र
साहित्य और ग्राम्य गीतों द्वारा होती है, उतनी कदाचित् और किसी सा
से नहीं होती। हमारी पुरानी कहावतें और लोकोक्तियाँ आज भी हमने
६६ फीसदी मनुष्यों के लिए जीवन-मार्ग के दीपक के समान हैं। अ
व्यवहारों में हम उन्हीं आदर्शों से प्रकाश लेते हैं। अगर हमारे ग्रा
गीत, ग्राम्य-कथाएँ और लोकोक्तियाँ हमें स्वार्थ, अनुदारता और निर्म
का उपदेश देती हैं तो उनका हमारे जीवन व्यवहारों पर वैसा ही अ
पड़ना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से जब हम अपने ग्राम्य-गीतों की परी
करते हैं, तो हमें यह देखकर खेद होता है कि उनमें प्रायः वैमनस
ईर्ष्या, द्वेष और प्रपंच ही की शिक्षा दी गई है। सास जहाँ आती है, व
उसे पिशाचिनी के रूप में ही देखते हैं, जो बातचीत में बहू को ता
देती है, गालियाँ सुनाती है, यहाँ तक कि बहू को निस्संतानरह ने
उसे बाँझिन कहकर उसका तिरस्कार करती है। ननद का रूप तो अ
भी कठोर है। शायद ही कोई ऐसा ग्राम्य-गीत हो, जिससे ननद औ
भावज में प्रेम और सौहार्द का पता चलता हो। ननद को भावज
न जाने क्यों जानी दुश्मनी रहती है। वह भावज का खाना-पहनना
हँसना-बोलना कुछ नहीं देख सकती और हमेशा ओछे खोज-खोजक
उसे जलाती रहती है। देवरानियाँ, जेठानियाँ और गोतिनें ने तो मानो
उसका अनिष्ट करने के लिए कसम खा रखी है। वे उसके पुत्रवर्ती
होने पर जलती हैं, और उसे भी पुत्र जन्म का या अपनी सुदशा का

केवल इसीलिए आनन्द होता है कि इससे देवरानियों, जेठानियों और गोतिनों का घमण्ड टूटेगा। उसका पति भी उससे प्रेम तो करता है, मगर जब सन्तान होने में देर होती है, तो कोसने लगता है। जो गीत जन्म, मुण्डन विवाह सभी उत्सवों में गाये जाते हैं, और प्रत्येक छोटे बड़े घर में गाये जाते हैं, उनमें अक्सर समाज और घर के यही चित्र दिखाये जाते हैं, और इसका हमारे घर और जीवन पर अप्रत्यक्ष रूप से असर पड़ना स्वाभाविक है। जब लड़की में बात समझने की शक्ति आ जाती है, तभी से उसे ननद के नाम से घृणा होने लगती है। ननद से उसे किसी तरह की सहानुभूति, सहायता या सहयोग की आशा नहीं होती। वह मन में ईश्वर से मनाती है कि उसका साबिका किसी ननद से न पड़े। ससुराल जाते समय उसे सबसे बड़ी चिन्ता यही होती है कि वहाँ दुष्टा ननद के दर्शन होंगे, जो उसके लिए छुरी तेज किये बैठी है। जब मन में ऐसी भावनाएँ भरी हुई हैं, तो ननद की ओर से कोई छोटी-सी शिकायत हो जाने पर भी भावज उसे अपनी बैरिन समझ लेती है और दोनों में वह जलन शुरू हो जाती है, जो कभी शान्त नहीं होती। आज हमारे घरों में ऐसी बहुत कम मिसालें मिलेंगी, जहाँ ननद भावज में प्रेम हो। सास और बहू में जो मन मुटाव प्रायः देखने में आता है, उसका सूत्र भी इन्हीं गीतों में मिलता है, और यह भाव उस वक्त दिल में जम जाते हैं, जब हृदय कोमल और ग्रहणशील होता है और इन पत्थर की लकीरों को मिटाना कठिन होता है। इस तरह के गीत एक तरह से दिलों में कटुता और जलन की बारूद जमा कर देते हैं, जो केवल एक चिनगारी के पड़ जाने से भड़क उठती है। युवती बधू को ससुराल में चारों तरफ दुश्मन ही दुश्मन नजर आते हैं, जो मानो अपने अपने हथियार तेज किये उस पर घात लगाये बैठे हैं। फिर क्यों न हमारे घरों में अशान्ति और कलह हो। बहू सुख-नींद सोई हुई है। सास और ननद दोनों तड़प तड़पकर बोलती हैं—बहू तुझे क्या गुमान हो गया है, जो सुख- नींद सो

रही है। 'भौजी' हमेशा 'बांगड़ विष बेल करेलवा मैं माल' यानी ऐसे तीखे वचन बोलती है जो हृदय में शूल पैदा कर देते हैं। 'ननदिया' हमेशा 'विष घोली'। एक गीत में सीता और उनकी ननद पानी भरने के लिए जाती हैं। ननद भावज से कहती है—रावन की तस्वीर खींचकर दिखा दे। भावज कहती है—राम सुन पायेंगे, तो मेरे प्राण ही ले लेंगे। ननद कसम खाती है कि वह भैया से यह बात न कहेगी। भावज भकमे में आ जाती है और रावन की तस्वीर खींचती है। चित्र आधा ही बन पाया है कि राम आ जाते हैं। सीता चित्र को आंचल से छिपा लेती है। इस पर ननद अपने वचन का जरा भी लिहाज नहीं करती और भाई से कह देती है कि यह तो 'रवना उरे हैं।' जो रावन तुम्हारा बैरी है, उसी की यहां तस्वीर बनाई जाती है। ऐसी औरत क्या घर में रखने योग्य है। राम तरह-तरह के हीले करते हैं; पर ननद राम के पीछे पड़ जाती है। आखिर हार कर राम सीता को घर से निकाल देते हैं। ननद का ऐसा अभिनय देखकर किस भावज को उससे घृणा न हो जायगी।

मगर इसके साथ ही ग्राम्य गीतों में स्त्री-पुरुषों के प्रेम, सास-ससुर के आदर, पति पत्नी के व्रत और त्याग के भी ऐसे मनोहर चित्र मिलते हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। अगर कोई ऐसी युक्ति होती, जिससे विष और सुधा को अलग-अलग किया जा सकता और हम विष को अग्नि की भेंट करके सुधा का पान करते तो समाज का कितना कल्याण होता।

बीसवीं सदी के अंग्रेजी ड्रामा के विषय में अगर यह कहा जाय कि वह मौजूदा साहित्य का सबसे प्रभावशाली अंग है, तो बेजा न होगा। एलिजाबीथन युग का ड्रामा अधिकतर अमीरों और रईसों के मनोरंजन के लिए ही लिखा जाता था। शेक्सपियर, बेन जानसन और कई अन्य गुमनाम नाटककार उस युग को अमर कर गये हैं। यद्यपि उनके ड्रामे में भी गौण रूप से समाज का चित्र खींचा गया है, और भाव, भाषा तथा विचार की दृष्टि से वे बहुत ही बड़ा महत्व रखते हैं; लेकिन यह निर्विवाद है कि उनका लक्ष्य समाज का परिष्कार नहीं, वरन् ऊँची सोसाइटी का दिल बहलाव था। उनके कथानक अधिकतर प्राचीन काल के महान पुरुषों का जीवन या प्राचीन इतिहास की घटनाओं अथवा रोम और यूनान की पौराणिक गाथाओं से लिये जाते थे। शेक्सपियर आदि के नाटकों में भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों के पात्रों का अत्यन्त सजीव चित्रण और बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण अवश्य है। और उनके कितने ही चरित्र तो साहित्य में ही नहीं साधारण जीवन में भी अपना अमर प्रभाव डाल रहे हैं; लेकिन यथार्थ जीवन की आलोचना उनमें नहीं की गई है। उस समय ड्रामा का यह उद्देश्य नहीं समझा जाता था। तीन सदियों तक अंग्रेजी ड्रामा इसी लीक पर चलता रहा। बीच में शेरिडन ही एक ऐसा नाटककार पैदा हुआ, जिसके ड्रामे अधिकतर व्यंग्यात्मक हैं, अन्यथा साहित्य का यह विभाग कुछ आगे न बढ़ सका। यकायक उन्नीसवीं सदी की पिछली शताब्दी में रंग बदला और विज्ञान तथा

कलाकार ने समाज में क्रान्ति पैदा कर दी उसका प्रतिबिम्ब एक नवीन
प्रकार के नाटक साहित्य में उत्पन्न हो गया और नवीन विचारधारा
विचारों से भरे हुए नाटककारों का एक नया समूह साहित्य के आकाश
में चमक उठा जिसकी कीर्ति आज भी अंग्रेजी साहित्य को प्रकाशित
कर रही है। नए ड्रामा का ध्येय अब बिलकुल बदल गया है। व
केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है, वह केवल घड़ी दो घड़ी हँसाना न
चाहता, वह समाज का परिष्कार करना चाहता है, उसकी रूढ़ियों
बन्धनों को ढीला करना चाहता है और उसके प्रमाद या भ्रान्ति
दूर करने का इच्छुक है। समाज की किसी न किसी समस्या पर निय
रूप से प्रकाश डालना ही उसका मुख्य काम है और वह इस दु
कार्य को इस खूबी से पूरा कर रहा है कि नाटक की मनोरंजकता में व
बाधा न पड़े, फिर भी वह जीवन की सच्ची आलोचना पेश कर सके

लेकिन विचित्र बात यह है कि नवीन ड्रामा के प्रवर्तकों में ।
भी अंग्रेज नहीं हैं। इबसेन, माटरलिंक, और स्ट्रिंडबर्ग, स्वेडेन, ै
जियम और जर्मनी के निवासी हैं, पर अंग्रेजी ड्रामा ने इन्हें इ
अपनाया है कि आज ये तीनों महान पुरुष अंग्रेजी साहित्य के उप
बने हुए हैं। इबसेन को तो नए ड्रामा का जन्मदाता ही कहना चाहि
वह पहला व्यक्ति था जिसने ड्रामा को समाज की आलोचना का ब
बनाया। नए समाज में स्त्रियों का स्थान ऊँचा करने में उसने जो
प्राप्त की है, वह अन्य किसी साहित्यकार को नहीं मिल सकी।
माटरलिंक अपने ड्रामों में उन सत्यों का पर्दा खोलने की चेष्टा
है, जो वर्तमान जड़वाद की व्यापकता के कारण विस्मृत से हो गये
उसके पात्र हाड़-मांस के मनुष्य नहीं, मनोभावों या आध्यात्मिक
मूर्तियों ही के नाम होते हैं। अंग्रेज नाटककारों में बर्नार्ड शा का
सब से मशहूर है, यहाँ तक कि अंग्रेजी-साहित्य में उसी का डंका
रहा है। वह आयरलैंड का निवासी है, और व्यंग परिहास और चुट
लेने की जो प्रतिभा आयरिश बुद्धि की विशेषता है, वह उसमें कूट-कू

मरी हुई है। अंग्रेजी समाज की कमजोरियों और कृत्रिमताओं का उसने ऐसा पर्दा फाश किया है कि *अंग्रेजों जैसा स्वार्थान्ध राष्ट्र भी कुनमुना* उठा है। सदियों की प्रभुता ने अंग्रेज जाति में जो अहंमन्यता, जो बनावटी शिष्टता, जो मक्कारी और ऐयारी, जो नीच स्वार्थपरता ठूँस दी है, वही शा के ड्रामों के विषय हैं। उसकी अमीरजादियों को देखिए, या धर्माचार्यों को, या राष्ट्र के उच्च पदाधिकारियों को, सब नकली जीवन का स्वांग भरे नजर आएँगे। उनका बहुरूप उतार कर उनको नग्न रूप में खड़ा कर देना शा का काम है। समाज का कोई अंग उसके कलम कुठार से नहीं बचा। वह आत्मा की तह में प्रतिष्ठित रूढ़ियों की भी परवाह नहीं करता। वह सत्य का उपासक है और असत्य को किसी भी रूप में नहीं देख सकता।

गाल्जवर्दी भी उपन्यासकार और कवि होते हुए भी नाटककार के रूप में अधिक सफल हुआ है। उसके ड्रामों में समाजवाद के सिद्धान्तों का ऐसा कलापूर्ण उपयोग किया गया है कि सामाजिक विषमता का चित्र आँखों के सामने आ जाता है, और पाठक उनसे बिना असर लिये नहीं रह सकता। उसके तीन नाटकों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके हैं, जिन्हें प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडेमी ने प्रकाशित किया है। 'चाँदी की डिबिया' में दिखाया गया है कि धन के बल पर न्याय की कितनी हत्या हो सकती है। 'न्याय' में उसने एक ऐसे चरित्र की रचना की है, जो सहानुभूति और उदारता के भावों से प्रेरित होकर गबन करता है और अपना कर्मफल भोगने के बाद जब वह जेल से निकलता है, तब समाज उसे ठोकरें मारता है और अन्त में वह विवश होकर आत्म-हत्या कर लेता है। 'हड़ताल' में उसने मालिकों और मजदूरों की मनोवृत्तियों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। उसने और भी कई ड्रामे लिखे हैं; पर ये तीनों रचनाएँ उसकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए काफी हैं। मेसफील्ड, बार्कर, सिंज, सर जेम्स बैरी, पेटर आदि भी सफल नाटककार हैं। और सब के रंग अपनी अपनी विशेषताएँ लिये

हुए हैं। मेटरलिंक ने मानव-जीवन के कितने सात्त्विक प्रकाश डाले हैं, खूब ख्याति पाई है। वह घोर आध्यात्मिकतावादी है और उसका जीवन है जो स्वप्न, मृत्यु, और आत्मा आदि में ही रमी है, इसी अंश में वह आँखें नहीं बन्द कर सकता। मनुष्य में स्वभावतः जितने गुण हैं इब्सन उनमें बड़ी बारीकी से निरीक्षण किया है। शॉ के ड्रामों में जोर और प्रौढ़ता की प्रधानता है। वह नए युग की अपेक्षा से दूनी है संसार का कल्याण, धर्म और विज्ञान के पुनर्जीवन में ही समझता है उसका ड्रामा एक स्कूल है, जो ड्रामा में काल्पनिक प्रसंगों को मन बहलावक समझता है, जिसमें मनुष्य कुछ देर के लिए तो इस ठोस कठ से भरे हुए संसार के वातावरण से निकलकर कविता के स्वच्छन्द लोक में विचर सके। ड्रिंकवाटर, मिल्न, आदि ड्रामेटिस्टों का भी यही रंग है।

सबसे बड़ी नवीनता जो वर्तमान ड्रामा में नजर आती है, वह उसका प्रेम चित्रण है। नवीन ड्रामा में प्रेम का वह रूप बिलकुल बदल गया है, जब कि वह संयोग मानसिक रोग से कम न था और नाटककार की सारी चतुराई प्रेमी और प्रेमिका के संयोग में ही खर्च हो जाती थी प्रेमिका किसी न किसी कारण से प्रेमी के हाथ नहीं आ रही है, और प्रेमी है कि प्रेमिका से मिलने के लिए जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाये डालता है। प्रेमिका की सहेलियाँ नाना विधि से उसकी विरहाग्नि को शान्त करने का प्रयत्न कर रही हैं और प्रेमी के मित्र वृन्द इस दुर्गम समस्या को हल करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं। सारे ड्रामे में मिलन-चेष्टा और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं के सिवा और कुछ न होता था। नवीन ड्रामे ने प्रेम को व्यावहारिकता के पिंजड़े में बन्द कर दिया है। रोमांस के लिए जीवन में गुञ्जाइश नहीं रही और न साहित्य में ही है। प्राचीन ड्रामा जीवन अनुभूतियों के अभाव को रोमांस से पूरा किया करता था। नया ड्रामा अनुभूतियों से मालामाल है। फिर वह क्यों रोमांस का आश्रय ले। मनुष्य को जिस वस्तु में सबसे ज्यादा अनुराग है वह मनुष्य है, और खयाली, आकाश-

गामी मनुष्य नहीं; बल्कि अपना ही जैसा, साधारण बल और बुद्धि वाला मनुष्य। नवीन ड्रामा ने इस सत्य को समझा है और सफल हुआ है। आज के नायक और नायिकाओं में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। नवीन ड्रामा का नायक वीरता और शिष्टता का पुतला नहीं होता और न *नायिका लज्जा और नम्रता और पवित्रता की देवी है*। ड्रामेटिस्ट उसी चरित्र के नायक और नायिका की सृष्टि करता है, जिससे वह अपने *विषय को स्वाभाविक और सजीव बनाने में कामयाब हो सके*। नवीन ड्रामा के पात्र केवल व्यक्ति नहीं होते, वरन् अपने समुदाय के प्रतिनिधि होते हैं और उस समुदाय की सारी भलाइयां और बुराइयां उनमें कुछ उग्र रूप में प्रकट होती हैं। शा की नायिकाएं आम तौर पर स्वच्छन्द और तेजमयी होती हैं। वे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हिम्मत नहीं छोड़तीं। प्रेम अपने व्यावहारिक रूप में बहुधा कामुकता का रूप धारण कर लेता है। नये ड्रामे में प्रेम का यही रूप दर्शाया गया है। सारांश यह कि आज का नायक कोई आदर्श चरित्र नहीं है और न नायिका ही। नायक केवल वह चरित्र है जिस पर ड्रामा का आधार हो।

नई ट्रेजेडी का रूप भी बहुत कुछ बदल गया है। अब वही ड्रामा ट्रेजेडी नहीं समझा जाता, जो दुखान्त हो। सुखान्त ड्रामा भी ट्रेजेडी हो सकता है, अगर उसमें ट्रेजेडी का भाव मौजूद हो अर्थात्—समाज के विभिन्न अंगों का संघर्ष दिखाया गया हो। कितनी ही बातें जो दुःख-जनक समझी जाती थीं, इस समय साधारण समझी जाती हैं, यहाँ तक कि कभी कभी तो स्वाभाविक तक समझी जाने लगी हैं। फिर नाटककार ट्रेजेडी कहाँ से उत्पन्न करे। पुरुष का पत्नी त्याग ट्रेजेडी का एक अच्छा विषय था; लेकिन आज की हीरोइन, जाते समय पति के मुंह पर थूककर हंसती हुई चली जायगी और पतिदेव भी मुंह पोंछ पोंछकर अपनी नई प्रेमिका के तलवे सहलाते नजर आयेंगे। काम प्रसंगों का ऐसा वीभत्स चित्रण भी किसी के कान नहीं खड़े करता, जिस पर पहले लोग आंखें बन्द कर लेते थे। तीन अंक के ड्रामों का भी धीरे धीरे बहिष्कार हो

रोमें रोलाँ की कला

रोमें रोलाँ फ्रांस के उन साहित्य-सम्राटों में हैं, जिन्होंने साहित्य के प्रायः सभी अङ्गों को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है और उपन्यास-साहित्य में तो वह विक्टर ह्यूगो और टाल्सटाय के ही समकक्ष हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'जान क्रिस्टोफ़र' के विषय में तो हम कह सकते हैं कि एक कलाकार की आत्मा का इससे सुन्दर चित्र उपन्यास-साहित्य में नहीं है। रोमें रोलाँ आत्मा और हृदय के रहस्यों को व्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। उनके यहाँ विचित्र घटनाएँ नहीं होतीं, असाधारण और आदर्श चरित्र नहीं होते। उनके उपन्यास जीवन-कथा मात्र होते हैं, जिनमें हम नायक को भिन्न पर रोज़ आने वाली परिस्थितियों में सुख और दुःख, मैत्री और द्वेष, निन्दा और प्रशंसा, त्याग और स्वार्थ के बीच से गुजरते हुए देखते हैं—उसी तरह मानों हम स्वयं उन्हीं दशाओं में गुज़र रहे हों। एक ही चरित्र नई नई दशाओं में पड़कर इस तरह स्वाभाविक रूप में हमारे सामने आता है, कि हमको उसमें लेश-मात्र भी असंगति नहीं मालूम होती। इसमें सन्देह नहीं कि Interpretation की कला में उनका कोई सानी नहीं है। इस उपन्यास में दो हज़ार से ऊपर पृष्ठ हैं। इसमें सैकड़ों ही गौण पात्र आये हैं, पर हरेक अपना अलग व्यक्तित्व रखते हैं। लेखक उनकी मनोवृत्तियों और मनोभावों की तह में जाकर ऐसे-ऐसे चमकते रत्न निकाल लाता है, कि हम मुग्ध भी हो जाते हैं और चकित भी। आपने क्रिस्टोफर के मुख से एक जगह साहित्य के विषय में ये विचार प्रकट किये हैं—

'आजकल के लेखक अनोखे चरित्रों के वर्णन में अपनी शक्ति नष्ट करते हैं। उन्होंने स्वयं अपने को जीवन से पृथक् कर लिया है। उनको छोड़ो और वहाँ जाओ जहाँ स्त्री और पुरुष रहते हैं। रोज़ का जीवन रोज़ मिलने वाले मनुष्यों को दिखाओ। वह जीवन गहरे समुद्र से भी गहरा और प्रशस्त है। हममें जो सबसे तुच्छ है, उसकी आत्मा भी अनन्त है। यह अनन्त प्रत्येक मनुष्य में है, जो अपने को सीधा-सादा मनुष्य समझता है। प्रेमी में, मित्र में, उस नारी में जो शिशु-जन्म के उज्ज्वल गौरव का मूल्य प्रसव-वेदना से चुकाती है—हरेक स्त्री और हरेक पुरुष में जो अज्ञात बलिदानों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यही जीवन की धारा है, जो प्राणों में प्रवाहित होती है, घूमती है, चक्कर लगाती है। इन्हीं सीधे-सादे मनुष्यों की सीधी-सादी कथा लिखो, उनके आनेवाले दिनों और रातों के सुखद काव्य की रचना करो। जीवन का विकास जैसा सरल होता है, वैसी ही सरल तुम्हारी कथा होनी चाहिए। शब्दों और अक्षरों और सूक्ष्म व्याख्यानों पर समय मत नष्ट करो, जो वर्तमान कलाकारों की शक्ति का दुरुपयोग कर रही है। तुम सर्वसाधारण के लिए लिखते हो, सर्वसाधारण की भाषा में लिखो। शब्दों में अच्छे-बुरे, शिष्ट और बाज़ारी का भेद नहीं है, न शैली में सौम्य और असौम्य का भेद है। हाँ, ऐसे शब्द और ऐसी शैलियाँ अवश्य हैं, जो उन भावों को नहीं खोलतीं, जो वह खोलना चाहती हैं। जो कुछ लिखो एकचित्त होकर लिखो, वही लिखो जो तुम सोचते हो, वही कहो, जो तुम्हारे मन को लगता है। अपने हृदय के सामंजस्य को अपनी रचनाओं में दर्शाओ। शैली ही आत्मा है।'

इन थोड़े से शब्दों में रोमें रोलाँ ने अपनी कला का सारा रहस्य भर दिया है। उसकी रचनाओं को पढ़िए। वहाँ वह उछल-कूद, वह तोड़-मरोड़, नवीनता पैदा करने का वह सचेष्ट प्रयत्न नहीं है, जो अक्सर कलाकार किया करते हैं। विद्वानों ने साहित्य कला के जो सिद्धान्त बना रखे हैं, वहाँ उनकी कहीं गन्ध भी नहीं। वह इसलिए नहीं

लिखता कि उससे पाठक का मनोरंजन हो। उसकी कला का उद्देश्य केवल मनोरहस्य को समझाना है। जिस तरह वह स्वयं मनुष्यों को देखता है, मनुष्यों को समझाता है। वह आशावादी है, मनुष्य के भविष्य में उसे अटल विश्वास है। संसार की सारी विपत्तियों का मूल यह है कि मनुष्य मनुष्य को समझता नहीं, या समझने की चेष्टा नहीं करता। इसीलिए द्वेष, विरोध और वैमनस्य है। वह यथार्थवादी अवश्य है; लेकिन उसका यथार्थवाद गन्दी नालियों में नहीं रहता। उसकी उदार आत्मा किसी वस्तु को उसके कलुषित रूप में नहीं देखती। वह किसी का उपहास नहीं करता। किसी का मज़ाक नहीं उड़ाता, किसी को हेय नहीं समझता। मानव हृदय उसके लिए समझने की वस्तु है। यह बात नहीं है कि उसे अन्याय देखकर क्रोध नहीं आता। उसने एक जगह लिखा है—मानव समाज की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा प्राणीमात्र का कर्तव्य है। जिसे अन्याय को देखकर क्रोध नहीं आता, वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है बल्कि वह मनुष्य भी नहीं है।

लेकिन अन्याय से संग्राम करने की उसकी नीति कुछ और है। वह मनुष्य को समझने की चेष्टा करता है, उस अन्याय भावना के उद्गम तक पहुँचना चाहता है, और इस तरह मानव-आत्मा में प्रवाह लेकर उसकी संकीर्णताओं को दूर करके समन्वय करना ही उसकी कला है।

स्वांतः सुखाय वाली मनोवृत्ति कला के विकास के लिए उत्तम समझी जाती है। हम प्रायः कहा करते हैं, कि अमुक व्यक्ति जो कुछ लिखता है, शौकिया लिखता है। वह अपनी कला पर अपनी जीविका का भार नहीं डालता। जिस कला पर जीविका का भार हो, वह इसलिए दूषित समझी जाती है कि कलाकार को जन-रुचि के पीछे चलना पड़ता है। मन और मस्तिष्क पर जोर डालकर कुछ लिखा तो क्या लिखा। कला तो वही है, जो स्वच्छन्द हो। रोमें रोलाँ का मत इसके विरुद्ध है। वह कहता है, जिस कला पर जीविका का भार नहीं, वह केवल

शौक है, केवल व्यसन, जो मनुष्य अपनी बेकारी का समय काटने
लिए किया करता है । यह केवल मनोरंजन है, दिमाग की थकन मि
के लिए । जीवन की मुख्य वस्तु कुछ और है; मगर सच्चे कलाकार
कला ही उसका जीवन है । इसी में वह अपनी सम्पूर्ण आत्मा से म
है, लिपटता है । स्वभाव की उत्तेजना के बगैर कला में तीव्रता कहाँ
आयेगी । व्यसन खिलौने बना सकता है । मूर्तियों का निर्माण करना उ
कलाकार का काम है, जिसकी सम्पूर्ण आत्मा उसके काम में हो ।

सांकेतिकता (Suggestiveness) कला की जान समझी जाती
और उसका सदुपयोग किया जाय, तो उसमें कला अधिक मर्मस्पर्शी
जाती है । पाठक यह नहीं चाहता कि जो बातें वह खुद आसानी
कल्पना कर सकता है, वह उसे बताई जायँ. लेकिन रोमें रोलाँ की कल
सब कुछ स्पष्ट करती चलती है । हाँ, उसका स्पष्टीकरण इस दर्जे क
होता है, कि पाठक को उसमें भी विचार और बुद्धि से काम लेने क
काफी अवसर मिल जाता है । वह पाठकों के सामने पहेलियाँ नहीं रखन
चाहता । उसकी कला का उद्देश्य मनोवृत्तियों को समझना है । जैस
उसने खुद समझा है, उसे वह पाठक के सम्मुख रख देता है और
पाठक को तुरन्त यह मालूम हो जाता है, कि लेखक ने उसका समय नष्ट
नहीं किया ।

और बीच-बीच में जीवन और समाज और कला और आत्मा और
अनेक विषयों पर रोमें रोलाँ जो भावनाएँ प्रकट करता है, उन पर
जो प्रकाश डालता है, वह तो अद्भुत है, अनुपम है । हम उन की
सूक्तियों को पढ़ते हैं, तो विचारों में डूब जाते हैं, अपने को भूल जाते
हैं । और यह साहित्य का सबसे बड़ा आनन्द है । अगर यह सूक्तियाँ
जमा की जायँ, तो अच्छी खासी किताब बन सकती है । उनमें अनुभव
का ऐसा गहरा रहस्य भरा हुआ है कि हमें लेखक की गहरी सूझ और
विशाल अनुभवशीलता पर आश्चर्य होता है । इन सूक्तियों का
उद्देश्य केवल अपना रचना-कौशल दिखाना नहीं है । वे मनोरहस्यों की

कुंजियाँ हैं, जो एक वाक्य में सारा अन्धकार, सारी उलझन दूर कर देती हैं—

'आनन्द से भी हमारा जी भर जाता है। जब स्वार्थमय आनन्द ही जीवन का मुख्य उद्देश्य हो जाता है, तो जीवन निरुद्देश्य हो जाता है।'

'सफलता में एक हो दैवी गुण है। वह मनुष्य में कुछ करने की शक्ति पैदा कर देती है।'

'सुशीला स्त्रियों में भी कभी-कभी एक भावना होती है, जो उन्हें अपनी शक्ति की परीक्षा लेने और उसके आगे जाने की प्रेरणा करती है।'

'आत्मा का सब से मधुर संगीत सौजन्य है।'

राष्ट्रभाषा का सवाल

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ ज़बानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, *न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता* हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये और मुँड़िया हिलाये' की जो आदत होती है। वह ख़तरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाकत नहीं है; लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ़ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए—जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ!

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख्तसर से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह

सुखानगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सके है और इतने अच्छे कार्यकर्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह। जिन दिमागों ने अँग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अँग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अँग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रसर हैं; वे लोग राष्ट्र-भाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं। जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहीं से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अँग्रेजी लिखने और बोलने में अँग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अँग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गयी है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकतर लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और शैली और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्र-भाषा प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और अभी भी यह प्रान्त अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अँग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदखाना शायद उसे

घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलाने-वाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आजाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अँग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसकी रोटियों का सवाल है और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है। अँग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये, उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उनमें उड़ने की शक्ति नहीं रही; वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफस है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से विदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धिबल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना

रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज के लिए उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्र भाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्र भाषा के भिक्षु हैं, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालनेवाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं। आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो; लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और सन्देह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्र-भाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्र-भाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में ऐसे लोगों की काफी तादाद निकल आये, जो ईश्वर को 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्र-भाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसल ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी

व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अङ्गभङ्ग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर वह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर हो सकता है। बोल-चाल पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पण्डितों के लिए भी लोहे

के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है, इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो कौमियत के मतवाले हैं। कट्टर पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसरों और अन्य विषयों के प्रोफेसरों से मेरी जो बातचीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेजार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी भाषा के आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूँ कि मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है—हालाँकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है—और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी अरबीमय भाषा मुस्लिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वप्रिय हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालों के लिए वहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से मुझे कुछ अर्ज करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवा करते गुजरा है और आज भी मैं जितना उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने

और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूं, आप इसे हिन्दी की गर्दनज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब तक हिन्दी की कविता का ज़ौक़ रखते थे और औरंगजेब ने ही आमों का नाम 'रसना विलास' और 'सुधा रस' रखा था? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफ़ीज जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआज़माई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हजारों शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आयी हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिये स्थान है, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इंगलैंडवाले

इंगलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले ज
फारसी, टर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले
बोलें ? उर्दू तो न काशियें में आती है न रदीफ में, न बहर
हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाय, तो बेशक
भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों में बह
वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं
नहीं हो जाता ? हमें दोनों ही भाषाओं में एक आम लुग
जरूरत है, जिसमें आमफहम शब्द जमा कर दिये जायँ
मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह
दी है। इस तरह का एक लुगत उर्दू में भी होना चाहिए
काम कौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे
दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम
परहेज करते हैं; हालाँकि हिन्दी में आमफहम फारसी के
से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्र-भाषा कहाँ तक हमारी
कर सकती है ? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, सम
लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्र-भाष
कर लेने से लिखे जा सकते हैं; लेकिन साहित्य में केवल इ
तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी
आप राष्ट्र-भाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो स
सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों
कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आ
होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़त
हमारी राष्ट्र-भाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर ए
एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष
हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र-भाषा को उसी तरह सर्वाङ्ग
जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी

अपने सार्थक रूप में भी पूरी नहीं है। पूरी क्या, अधूरी भी नहीं है। जो राष्ट्र-भाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर-मगजन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफहम शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यवहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्र-भाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमें राष्ट्र-भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायँगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र-भाषा की जरूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तामिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की। हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ से आँखें बन्द किये बैठे हैं।

उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने दुश्मनियों की मनोवृत्ति ले ली है। अगर इनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, अगर ये भी जन-साधारण जनता का महसूस करते, तो शायद हमारा काम आसान ... जिस देश में जनशिक्षा की मात्रा इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेजी में अपनी शिक्षा का सेहरा बाँध ही लें, तो क्या! हम तो तब जानें, जब शिक्षा के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अंग्रेजीदाँ ही नहीं रहते। हजार में ९९९, भारतवासी अंग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दुनिया में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की दुहाई देकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपको पहचानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ़ मुजरिमाना ग़फ़लत दिखायी है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फ़ुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँति में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज्य प्राप्त कर सके। ग़ैर-मुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फ़तह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हज़रत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयेंगे और निकल जायेंगे, आप कभी

हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अँग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावे, जिससे आपकी चिल्ल-पों से माता पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी से बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्र-भाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल जरूरत नहीं। 'उसमानिया विश्व विद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्व-विद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम से कम अँग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं? अँग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अँग्रेजी के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम जरूरत से ज्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गयी है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमें से छाँटी

नहीं। छोटा बच्चा, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई दानी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अँग्रेज़ी की गुलामी करने की जरूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची से ऊँची शिक्षा राष्ट्र-भाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे हैं, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्र-भाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये; पर यहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। यही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है, मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलायी जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्र-भाषा के महत्त्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्र भाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अँग्रेज़ियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अँग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम

इस पर आमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक दो कालम नियमित रूप से राष्ट्र भाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्र-भाषा-पूर्ण रूप से अँग्रेजी का स्थान ले लेगा, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्र-भाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में यह बीज पड़ गया है, हमारी सम्पूर्ण प्राण शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रान्तीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृङ्गार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृङ्गार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का

दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को र
पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी
कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता
उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस जमाने का रंग था।
रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के
उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नकशा है भी, तो
कि संसार चन्द-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का मय
है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैर
के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से
अमूल्य है। उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही
यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गयी है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन
से बिलकुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भ
की गहराई, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन क
से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जम
है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन
दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इत
फैला दिया है कि वह बड़े से बड़े दुःख और बाधा का स्वागत क
है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी
हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की श
शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और
थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना
आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विकास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद',
सुभद्रा, 'लली', 'द्विज,' 'मिलिन्द', 'नवीन', पं० माखनलाल चतु
आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम
हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कई कवि हैं, जिनकी रचन
पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायँ

काव्यों का आनन्द लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफ़ीना भी त्रिपाठीजी ने खोद कर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहें शौक से निकाल ले जाइये और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगायी हुई पुष्पवाटियों की सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नजर से गुजरा, वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्य-रस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी० पी० श्रीवास्तव के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिये। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रङ्ग में कमाल कर गये हैं। उमर खैयाम का मजा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', विशेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसेन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निज़ामी हैं, जिनकी कलम ... दिला देने की ताकत है। हिन्दी के उपन्यास... चीजें कम आयी हैं, ... उत्साह, नये ... की हुई

... झगड़े की ... देर तक ... जिम है।

यह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पच्छिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अन्तर है, जो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बँगला, गुजराती, तमिल, आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्रों का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायँ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि ... व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति ... प्रश्न आप हल हो जायगा। यू० पी० में यह आन्दोलन

भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर यह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्र हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान् बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं—कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे। आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक

भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के
छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली
पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल
हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही
लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो
हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योज-
नाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता
में राष्ट्र-चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्र हित के लिए
छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का
बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में
आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में
पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा
पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान
बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है जो
खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं।
वह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी
रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं—कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता
से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस
और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं।
सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके
जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे।
आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत
सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी
और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प
सत्य है, तो आप में से हरेक एक एक सेना का नायक हो जायगा।
आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और
श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक

पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधि-वितरणोत्सव के अवसर पर, २९ दिसम्बर, १९३४ ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण।

बहनो और भाइयो,

किसी कौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं, और उसकी तशरीह करना आप-जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरोंवाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हाँ या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारों में ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज का खयाल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक्ल-सूरत, हमारे रंग रूप ही की भाँति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा

ख्यालात में जो इनकलाब होते रहते हैं, उनसे वाक़िफ़ होने के लिए भी अँगरेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अँगरेजी के हाथ में हैं और कोई भी उस खजाने को नाचीज नहीं समझ सकता। दुनिया की तहज़ीबी या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के लिए अङ्गरेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आँख नहीं बन्द कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में क़ौमी भाषा की जरूरत बिलकुल भूल गये और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अँगरेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रान्तीय भाषा से सारी जरूरतें पूरी हो जाती थीं। क़ौमी भाषा का स्थान अँगरेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अँगरेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतङ्क है, उससे कहीं ज्यादा अँगरेजी भाषा का है। अँग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं; लेकिन अँग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अँग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अँग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जायगा। पुराने समय में आर्य्य और अनार्य्य का भेद था, आज अँग्रेजीदाँ और गैर-अँग्रेजीदाँ का भेद है। अँग्रेजीदाँ आर्य्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर-अँग्रेजीदाँ अनार्य्य है और उसका काम केवल आर्य्यों की सेवा टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्य्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात चौगुना। अगर सौ-दो-सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी जबान है, हमारा काम तो चलता है; लेकिन इधर तो

हजार-दो हजार साल में भी उसके जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखों को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमें एक दीवार खिच गयी है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमण्ड और दबदबे का असर-होना ही चाहिए। हम अँग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अंग भूलकर हाकिम जाति का अंग समझने लगते हैं, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतों में कसदन, और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाता है, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी विरादरी हो गयी है, उनका रहन सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है। जो हमारा अँग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अँग्रेजियत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमें बेहद उदारता आ गयी है, छूतछात से सोलहो आना नफरत हो गयी है, वह अँग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अँग्रेजी साहबों से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अँग्रेजी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाय, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का कभी ख्याल भी न आयगा। मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुञ्जायश नहीं है। ठोकरों पर-ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अँग्रेज साहब का मुकाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। काँग्रेस को जो थोड़ा-बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा में अपील करने

अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।'

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझनेवाले आदमी को जरा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का एक दूसरा पैरा देता हूँ—

'उसकी वफ़ा का जज़्बा सिर्फ़ ज़िन्दा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ़ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी ख़ुद को क़ुरबान कर देती थी। अगर मौत का ज़ालिम हाथ उसके रफ़ीक़ हयात को छीन लेता था तो वह बाक़ी ज़िन्दगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख़्स का ख़याल भी उसके वफ़ापरस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें—'वह सिर्फ़ जिन्दा आदमियों के साथ वफ़ा न करती थी' और 'वफ़ापरस्त' की जगह 'प्रेमी' 'रफ़ीक़ हयात' की जगह 'जीवन साथी' का व्यवहार करें, तो वह साफ़ हिन्दुस्तानी बन जायगी और फिर उसके समझने में किसी को दिक्कत न होगी। अब मैं एक हिन्दी-पत्र से एक पैरा नकल करता हूँ—

'मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये नये आविष्कारों से बेकारी का बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए यही काफी था; लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जन गणना देखने से मालूम हो रहा है कि जन-संख्या बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवाद कुछ लोगों को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास की नयी-नयी सामग्री जुटा सकता है।'

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमें 'प्रयोग' 'आविष्कार' 'समस्या' यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदाँ लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओं के बोलनेवालों की

फा० १२

समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम कौमी भाषा बना सकते हैं। ह अपने शब्दों का कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए—

'अपने साथ रहनेवाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज़ सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्या जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज विरोधी काय नहीं पाते! न्यायकर्त्ता तो सदा खूँखार बना रहता है, क्योंकि वह का पागल है। अभियोग लगानेवाला, पुलिस को खबर देने पुलिस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के गिर्द मँडराया करते हैं और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? म मुकदमों की रिपोर्ट पढ़िये, पर्दे के अन्दर नज़र डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न र भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आ सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा।'

यहाँ अगर हम 'समाज विरोधी' की जगह 'समाज को नुकसान पहुँचानेवाले' 'अभियोग' की जगह 'जुर्म', 'गुप्तचर' की जगह 'मुख 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बन्द' लिखें, तो वह सरल सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

इन उदाहरणों या मिसालों से जाहिर है कि हिन्दी-कोष में के और उर्दू-कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फारसी उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रि था गये हैं उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण जो कठिनाई होती है, इसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लि

और उन्होंने हमारे संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवधी में इसकी बहुत-सी मिसालें मिलती हैं, जिन्हें यहाँ लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता। इसलिए कौमी भाषा में उनका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व-साधारण नहीं समझते, ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गये हैं कि उनको समझने में जनता को कोई दिक्कत नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ा हो। जुर्म का मतलब बेपढ़े भी समझते हैं। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति', की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द है। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मत-भेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी कौमी जबान चाहते हैं, जिसे ज्यादा से ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नहीं चाहता कि उसकी बात ज्यादा-से-ज्यादा लोग समझें, ज्यादा-से ज्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक सम्बन्ध हो। हिन्दी में एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूँकि हिन्दुस्तान की सभी सूबेवाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं इसलिए हिन्दी में हम अधिक-से-अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिये; ताकि अन्य प्रान्तों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलनेवाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलनेवाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते, और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा की पवित्रता की धुन में तोड़-मरोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर होता है; लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से

मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है । लेकिन य
नहीं है कि वह बोल-चाल की भाषा से मिले । इस आदर्श से
दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है । बोल-चाल
भी व्यवहार और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है।
समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाष
होती है । फिर भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहि
इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े । फारसी
शीन-काफ़ का बड़ा फेर है; लेकिन कौमी भाषा में यह
करनी पड़ेगी । पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह
व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे
चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी, चाहे वे किसी प्रान्त
वाले हों, समझें, बोलें, और लिखें । ऐसी भाषा न पंडित
और न मौलवियों की । उसका स्थान इन दोनों के बीच में
जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती अ
के विन्यास की बहुत थोड़ी गुंजायश है । और जिसे हिन्दी या
अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लाल
जोरदार होता है । लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रक
चाहता; बल्कि उसे बना-सँवारकर रखना चाहता है । बल्कि यं
चाहिये कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता
नहीं । उसी तरह, जैसे कलावंत राग-रागिनियाँ गाते समय केवल र
आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुननेवालों में कितने अनाड़ी
इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती । अगर हमें राष्ट्र-भाषा क
करना है, तो हमे इस लालच को दबाना पड़ेगा । हमें इबारत व
पर नहीं, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान
होगा । इस वक्त ऐसी भाषा कानों और आँखों को खटकेगी जरू
गंगा-मदार का जोड़ नजर आयेगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी क
में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच में ह

गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड़ देंगे। पंडितजी भी खिलखिलयेंगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोड़ेंगे और चारों तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे ज़िबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिये यह साजिश की गयी है; हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गयी है! लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्र-भाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्र-भाषा तो बाजारों में और गलियों में बनती है; लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी-अपनी जबानों के दरवाजों पर संगीनें लिये खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आँख न उठा सके। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिला तकल्लुफ स्थान देते हैं; लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अन्दर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की जगह फारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। जरा जरा से मुज़क्कर और मुअन्नस के भेद पर तूफ़ान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गयी है, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुँचे। जहाँ राष्ट्र भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सब से बड़ी दिक्कत इसी लिङ्ग भेद के कारण पैदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पण्डितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फन्दों को कुछ नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहाँ तक हो सके, निरर्थक कैदों से आजाद हो। आँख क्यों स्त्री लिङ्ग है और कान क्यों पुल्लिङ्ग है, इसका कोई सन्तोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जो संस्था जनता की भाषा का बहिष्कार करती है, उस पर दूर दूर से लाठी लेकर उठती है। राष्ट्रीय संस्था किस सिद्धान्त से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, फिर चाहे वे समाजवाद या साम्यवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आवें। मुमकिन है इस वक्त आपको राष्ट्र भाषा की ज़रूरत न मालूम होती हो और अंग्रेज़ी से आपका काम मज़े से चल सकता हो; लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को मज़बूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें क़ौमी भाषा का स्थान सबसे ऊँचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अँग्रेज़ी को अपनी क़ौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपकी आज़ादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह अन्तर की आत्मा से निकली हुई तड़प नहीं है, केवल आज़ादी के शहीद बन जाने की हविस है। यहाँ जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा नहीं। लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान को एक क़ौम देखना चाहते हैं—इसलिए नहीं कि वह क़ौम कमज़ोर क़ौमों को दबाकर, भाँति भाँति के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाये और अपनी ताक़त पर घमण्ड करे, बल्कि इसलिए कि वह आपस में हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाये कि हम अपने भाग्य का फ़ैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें—उनका यह फ़र्ज़ है कि क़ौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। और यहाँ सब हमारे हाथ में है। विद्यालयों में हम क़ौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए क़ौमी भाषा में बोलना और लिखना लाज़िमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अँग्रेज़ी या बँगला, एक दो कालम क़ौमी भाषा के लिए अलग करा सकते हैं। अपने प्लेटफ़ार्म पर क़ौमी भाषा का व्यवहार कर सकते हैं। आपस में क़ौमी भाषा में बातचीत कर

सकते हैं। जब तक मुल्की दिमाग अँग्रेजी की गुलामी में खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानों में राष्ट्र न बन सकेगा। यह भी जाहिर है कि एक प्रान्त या एक भाषा के बोलनेवाले कौमी भाषा नहीं बना सकते। कौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रान्तों के दिमागदार लोग उसमें सहयोग देंगे। सम्भव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाय कोई पश्चिम; लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शान्त हो जायगा और जहाँ केवल धूल और अन्धकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ-सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके कलम में मुर्दों को जिलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहाँ विचरते हुए नज़र आयेंगे। तब हमें टैगोर, मुंशी, देसाई और जोशी की कृतियों से आनन्द और लाभ उठाने के लिए मराठी और बँगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। कौमी भाषा के साथ कौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रान्तीय न होकर कौमी हो जायगा। इस अँग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वेलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मानूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत और मुन्शी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। डॉक्टर टैगोर भी अँग्रेजी में न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओं का है कि वह कौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमगे दें, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप में संघटित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिन्दा रहना मुश्किल है। यक़ीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन सी है। मगर दूसरी कौमों के साथ कौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीज़ों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनाना है, उसे

एक कौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हकीकत को हम म
लेकिन सिर्फ ख्याल में। उस पर अमल करने का हममें साहस
यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक
इण्डिया संस्था का होना जरूरी है, जो इसके महत्व को समभ
इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का सम्बन्ध इतना करीबी है कि आप
लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी
हैं, उनको एक लिपि में लिखने में कोई बाधा नहीं है, थोड़ा-सा
संकोच चाहे हो। पहले भी स्व० बाबू शारदाचरण मित्र ने एक
लिपि-विस्तार-परिषद् बनाई थी और कुछ दिनों तक एक पत्र निकाल
आन्दोलन चलाते रहे; लेकिन उससे कोई खास फायदा न
केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का अन्तर कम नहीं होत
हिंदी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना
लिपि में। प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते
कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि
ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास
है बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और
सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि
से बिलकुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें
लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।
जबान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्व नहीं रखता।
उर्दूदाँ आदमी को मालूम हो जाय कि केवल हिंदी अक्षर सीखकर
डा० टैगोर या महात्मा गांधी के विचारों को पढ़ सकता है, तो वह
सीख लेगा। यू० पी० के प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शि
दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता
जहां तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदाँ को एतराज
होगा। स्कूलों में हफ्ते में एक घण्टा दे देने से हिन्दीवालों को

और उर्दूवालों को हिन्दी लिपि सिखाई जा सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू में स्वर आदि के ऐब होने परभी उसमें गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जाननेवाले उसे नहीं छोड़ सकते और जिन लोगों का इतिहास और संस्कृति और गौरव उर्दू लिपि में सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा भी नहीं की जा सकती। उर्दूदाँ लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते हैं, इसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जायँगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन दिन बढ़ता जायगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरी पीछे रह जायेगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही *राष्ट्र-लिपियाँ हैं और हमें अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में* उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे।*

---

*बम्बई के 'राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन' में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से २७-१०-३४ को दिया गया भाषण।

हिन्दी-उर्दू की एकता

सज्जनो, आर्य समाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्य भाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अन्तर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है, जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है। और उनमें उर्दू और हिन्दी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि उसके तहजीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज्यादा प्रसिद्ध और रौशन हैं। आर्यसमाज ने साबित कर दिया है कि सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन सा क्षेत्र है जिसमें उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड़ रही हो। कौमी जिन्दगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरदेशी का सबूत दिया है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा, पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी, हालाँकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड़-उड़कर

समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो। उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन-विषयों को जन-साधारण की सम्पत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई कई लीवरवाले ताले लगे हुए थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों में हजारों मामूली लियाकत के स्त्री पुरुष सिर्फ विद्वानों के भाषण सुनने का आनन्द उठाने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने का महान् उद्योग किया है। सम्पूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वाङ्गपूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे खयाल में वह निरसत्व है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाय; अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ कायम रखे बल्कि और मजबूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुशकिलों का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहाँ कला और संयम में कोई मेल न हो, जहाँ की कला केवल केवल नाचने-गाने और नकल करने में ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मैं कायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षासंस्था हो जिसने कौम की पुकार का इतनी जवाँमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाये, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाये, अगर विद्या हममें स्वाभिमान न पैदा करे, और हमें समाज के जीवनप्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थप्रकाश लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नजर ने देख लिया

कि अगर जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा ही अकेला साधन है, और गुरुकुलों ने हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा-प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।

सज्जनो, मैं यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा-विज्ञान की पोथियों में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है, हाँ लिखने में वह फर्क बढ़ जाता है। मगर उस तरह का फर्क सिर्फ हिन्दी में ही नहीं, गुजराती, बँगला और मराठी वगैरह भाषाओं में भी कमोबेश वैसा ही फर्क पाया जाता है। भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है, और जहाँ संस्कृति में भेद होगा वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं, वह देहली प्रांत की भाषा है। उसी तरह जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाती हैं और सभी साहित्यिक भाषा रह चुकी हैं। बोली का परिमार्जित रूप ही भाषा है। सबसे ज्यादा प्रसार तो ब्रजभाषा का है क्योंकि वह आगरा प्रांत के बड़े हिस्से की ही नहीं, सारे बुन्देलखण्ड की बोलचाल की भाषा है। अवधी अवध प्रांत की भाषा है। भोजपुरी प्रान्त के पूर्वी जिलों में बोली जाती है, और मैथिली बिहार प्रांत के कई जिलों में। ब्रजभाषा में जो साहित्य रचा गया है, वह हिन्दी के पद्य-साहित्य का गौरव है। अवधी का प्रमुख ग्रंथ तुलसीकृत रामायण और मलिक मुहम्मद जायसी का रचा हुआ पद्मावत है। मैथिली में विद्यापति की रचनाएँ ही मशहूर हैं। मगर साहित्य में आम तौर पर मैथिली का व्यवहार कम हुआ। साहित्य में तो अवधी और ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। हिन्दी के विकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी

साहित्यिक भाषा थी और प्रायः उन सभी प्रदेशों में जहाँ आज हिन्दी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था। अवध में और काशी में भी कवि लोग अपने कवित्त ब्रजभाषा में ही कहते थे। यहाँ तक कि गया में भी ब्रजभाषा का ही प्रचार होता था।

तो यकायक ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिन्दी कैसे सबके ऊपर गालिब आयी यहाँ तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य में कहीं व्यवहार नहीं है। हाँ, ब्रजभाषा को अभी तक थोड़े से लोग सीने से चिपटाये हुए हैं। हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानों को है। मुसलमानों ही ने दिल्ली-प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रांतों में गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ यह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुजरा। दिल्ली में बहुत दिनों तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन में यह पलती रही। गोलकुंडा, बीजापुर, गुलबर्गा आदि के दरबारों में इसी भाषा में शेर-शायरी होती रही। मुसलमान बादशाह प्रायः साहित्यप्रेमी होते थे। बाबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, दाराशिकोह सभी साहित्य के मर्मज्ञ थे। सभी ने अपने-अपने रोजनामचे लिखे हैं। अकबर खुद शिक्षित न हो, मगर साहित्य का रसिक था। दक्खिन के बादशाहों में अकसर ने कविताएँ की और कवियों को आश्रय दिया। पहले तो उनकी भाषा कुछ अजीब खिचड़ी सी थी जिसमें हिन्दी, फारसी सब कुछ मिला होता था। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है, जो मुगलों से भी पहले खिलजी राजकाल में हुए। खुसरो की कविता का एक नमूना देखिये—

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।

जब यार से ओझल भया, गहबर लगा मेरा जिया,
इसका इलाही क्या किया आँसू चले भरभारकर ॥
तू तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, एक शब मिलो तुम आय कर।
मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा गम को दिया,
गम ने मुझे ऐसा किया जैसे पतंगा आग पर ॥
खुसरो की एक दूसरी गजल देखिये—
बह गये बालम, बह गये नदियों किनार,
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदार।
भाई रे मल्लाहो हम को उतारो पार,
हाथ का देऊँगी मुँदरी, गल का देऊँ हार।

मुसलमानी जमाने में अक्सर हिन्दी के तीन रूप होंगे। एक नागरी लिपि में ठेठ हिन्दी, जिसे भाषा या नागरी कहते थे, दूसरी उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई फारसी से मिली हुई हिन्दी और तीसरी ब्रजभाषा। लेकिन हिन्दी-भाषा का मौजूदा सूरत में आते-आते सदियाँ गुजर गयीं। यहाँ तक कि सन् १८०३ ई० से पहले का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। सदल मिश्र की 'चन्द्रावती' का रचना-काल १८०३ माना जाता है और सदल मिश्र ही हिन्दी के आदि लेखक ठहरते हैं। इसके बाद लल्लूजी, सैयद इंशा अल्लाह खाँ वगैरह के नाम हैं। इस लिहाज से हिन्दी गद्य का जीवन सवा सौ साल से ज्यादा का नहीं है, और क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सवा सौ साल पहले जिस जबान में कोई गद्य-रचना तक न थी वह आज सारे हिन्दुस्तान की कौमी जबान बनी हुई है! और इसमें मुसलमानों का कितना सहयोग है, यह हम बता चुके हैं। हमें सन्देह है कि मुसलमानों का सहारा पाये बगैर इसको यह दरजा हासिल होता।

हिन्दुओं की हिन्दी का रूप विकसित हो रहा था, उसी तरह मुसलमानों की हिन्दी का रूप भी बदलता जा रहा था। लिपि

तो शुरू से ही अलग थी, जबान का रूप भी बदलने लगा। मुसलमानों की संस्कृति ईरान और अरब की है। उसका जबान पर असर पड़ने लगा। अरबी और फारसी के शब्द उसमें आ आकर मिलने लगे, यहाँ तक कि आज हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग जबानें सी हो गयी हैं। एक तरफ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फारसी के शब्द भरते जाते हैं, दूसरी ओर पण्डितगण, संस्कृत और प्राकृत के शब्द ठूँस रहे हैं और दोनों भाषाएँ जनता से दूर होती जा रही हैं। हिन्दुओं की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढ़ती जा रही है; लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है। मुसलमानों ने हिन्दी से कोई सरोकार रखना छोड़ दिया। तो क्या यह तै समझ लिया जाय कि उत्तर भारत में उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ अलग-अलग रहेंगी? उन्हें अपने-अपने ढंग पर, अपनी अपनी संस्कृति के अनुसार बढ़ने दिया जाय, उनको मिलाने की और इस तरह उन दोनों की प्रगति का रोकने की कोशिश न की जाय? या ऐसा सम्भव है कि दोनों भाषाओं को इतना समीप लाया जाय कि उनमें लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हाँ, कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी हैं जिनका ख्याल है कि दोनों भाषाओं में एकता लायी जा सकती है, और इस बढ़ते हुए फर्क को रोका जा सकता है; लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज है। ये लोग हिन्दी और उर्दू नामों का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि दो नामों का व्यवहार उनके भेद को और मजबूत करता है। यह लोग दोनों को एक नाम से पुकारते हैं और वह 'हिन्दुस्तानी' है। उनका आदर्श है कि जहाँ तक मुमकिन हो लिखी जानेवाली जबान और बोलचाल की जबान की सूरत एक हो, और यह थोड़े से पढ़े लिखे आदमियों की जबान न रहकर सारी कौम की जबान हो। जो कुछ लिखा जाय उसका फायदा जनता भी उठा सके, और हमारे यहाँ पढ़े लिखों की जो एक जमाअत अलग बनती जा रही है, और जनता से उनका सम्बन्ध जो दूर होता जा रहा है, वह दूरी

मिट जाय और पढ़े-बेपढ़े सब अपने को एक जान, एक दिल समझें और कौम में ताकत आवे। चूँकि उर्दू जवान अरसे से अदालती और सभ्य-समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमें हजारों फारसी और अरबी के शब्द इस तरह घुल मिल गये हैं कि अब देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दों को अलग करके हिन्दी में विशुद्धता लाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे जवान और कौम दोनों ही के साथ अन्याय समझते हैं। इसी तरह हिन्दी या संस्कृत या अँगरेजी के जो बिगड़े हुए शब्द उर्दू में मिल गये, उनको चुन-चुनकर निकालने और उनकी जगह खालिस फारसी और अरबी के शब्दों के इस्तेमाल को भी उतना ही एतराज के लायक समझते हैं। दोनों तरफ से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-थलग होता जा रहा है, और उसे इसकी खबर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावों और विचारों को अदा करती है। ऐसी जबान जिसके लिखने और समझनेवाले थोड़े से पढ़े-लिखे लोग ही हों, मसनुई, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैगाम पहुँचाने की, उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमरमर के बने हों जिसमें कमल खिले हों, लेकिन उसका पानी बन्द हो। क्या उस पानी में वह मजा, वह सेहत देनेवाली ताकत, वह सफाई है जो खुली हुई धारा में होती है? कौम की जबान वह है जिसे कौम समझे, जिसमें कौम की आत्मा हो, जिसमें कौम के जज़बात हों। अगर पढ़े-लिखे समाज की जबान ही कौम की ज़बान है तो क्यों न हम अँग्रेजी को कौम की ज़बान समझें, क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफी से अँग्रेजी बोल सकता है, और जिस रवानी के साथ अँग्रेजी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता। बड़े-बड़े दफ्तरों में और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनों, बरसों जरूरत नहीं होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अँग्रेजी बोलते

और समझते हैं। जो लोग इस तरह की जिन्दगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बुलंदी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। Intelligentsia में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है, वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं, खादिम की सूरत में, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है, उनमें जनसमूह की आवाज की गहराई और गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं, जनता के प्रतिनिधि नहीं।

बेशक, यह बड़ा ज़ोरदार जवाब है कि जनता में शिक्षा इतनी कम है, समझने की ताकत इतनी कम कि अगर हम उसे जेहन में रखकर कुछ बोलना या लिखना चाहें, तो हमें लिखना और बोलना बन्द करना पड़ेगा। यह जनता का काम है कि वह साहित्य पढ़ने और गहन विषयों का समझने की ताकत अपने मे लाये। लेखक का काम तो अच्छी-से अच्छी भाषा में ऊँचे-से ऊँचे विचारों को प्रकट करना है। अगर जनता का शब्दकोष सौ दो-सौ निहायत मामूली रोजमर्रा के काम के शब्दों के सिवा और कुछ नहीं है, तो लेखक कितनी ही सरल भाषा लिखे, जनता के लिए वह कठिन ही होगी। इस विषय में हम इतना अर्ज करेंगे कि जनता को इस मानसिक दशा में छोड़ने की जिम्मेदारी भी हमारे ही ऊपर है। हममें जिनके पास इल्म है, और फुरसत है, यह उनका फर्ज था कि अपनी तकरीरों से जनता में जागृति पैदा करते, जनता में ज्ञान के प्रचार के लिए पुस्तकें लिखते और सफरी कुतुबखाने कायम करते। हममें जिन्हें मकदरत है, वह मदरसे खोलने के लिए लाखों रुपये खैरात करते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि कौम को ऐसे

मुश्किलों की परवाह न देना चाहिये, मगर क्या ऐसी संस्थाएँ न खु
सकती थीं और क्या उनसे कौम का कुछ कम उपकार होता जो मास
और पुस्तकों से जनता में साहित्य और विज्ञान का प्रचार करती औ
उनको सभ्यता की ऊँची सतह पर लाती? आर्यसमाज ने जिस तरह
विषयों का जनता में प्रचार किया है उन विषयों को साधारण पढ़ा-लिख
आर्यसमाजी भी खूब समझता है। धार्मिक मामलों को, या मुक्ति औ
आवागमन जैसे गम्भीर विषयों को गाँव के किसान भी अगर ज्यादा न
समझें, तो साधारण पढ़े लिखों के बराबर तो समझ ही लेते हैं। इस
तरह अन्य विषयों की चर्चा भी जनता के सामने होती रहती तो हमें य
शिकायत न होती कि जनता हमारे विचारों को समझ नहीं सकती
मगर हमने जनता की परवाह ही कब की है? हमने केवल उसे दुधा
गाय समझा है। यह हमारे लिए अदालतों में मुकदमे लाती रहे
हमारे कारखानों की बनी हुई चीजें खरीदती रहे। इनके सिवा हमने
उससे कोई प्रयोजन नहीं रखा, जिसका नतीजा यह है कि आज जनता
को अँग्रेजों पर जितना विश्वास है उतना अपने पढ़े-लिखे भाइयों
पर नहीं।

संयुक्त-प्रान्त के सार्विक से पहले के गवर्नर सर विलियम मैरिस ने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी खोलते वक्त हिन्दी-उर्दू के लेखकों को जो सलाह दी थी, उसे ध्यान में रखने की आज भी उतनी ही जरूरत है, जितनी उस वक्त थी, शायद और ज्यादा। आपने फरमाया कि हिन्दी के लेखकों को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिए कि उनके पाठक मुसलमान हैं। इसी तरह उर्दू के लेखकों को यह खयाल रखना चाहिए कि उनके कारी हिन्दू हैं।

यह एक सुनहरी सलाह है और अगर हम इसे गाँठ बाँध लें, तो जबान का मसला बहुत कुछ तय हो जाय। मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमायें अगर मैं कहूँ कि इस मुआमले में वह हिन्दू लेखकों से ज्यादा खतावार हैं। संयुक्तप्रान्त की कॉमन लैंग्वेज रीडरों को देखिए।

आप सहल किस्म की उर्दू पायेंगे। हिन्दी की अदबी किताबों में भी अरबी और फारसी के सैकड़ों शब्द धड़ल्ले से लाये जाते हैं। मगर उर्दू साहित्य में फारसीयत की तरफ ही ज्यादा झुकाव है। इसका सबब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है और न रखना चाहते हैं। शायद हिन्दी से थोड़ी-सी वाकफियत हासिल कर लेना भी वह बरखे-शान समझते हैं, हालांकि हिन्दी वह चीज है, जो एक हफ्ते में आ जाती है। जब तक दोनों भाषाओं का मेल न होगा, हिन्दुस्तानी जबान की गाड़ी जहाँ जाकर रुक गयी है, उससे आगे न बढ़ सकेगी। और यह सारी करामात फोर्ट विलियम की है जिसने एक ही जबान के दो रूप मान लिये। इसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनों जबानों में काफी फर्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की ज़बान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी कौमी जिन्दगी के दो टुकड़े कर दिये। अपने हिन्दू दोस्तों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि जिन शब्दों ने जन-साधारण में अपनी जगह बना ली है, और उन्हें लाग आपके मुँह या कलम से निकलते ही समझ जाते हैं, उनके लिए संस्कृत-कोष की मदद लेने की जरूरत नहीं। 'मौजूद' के लिए 'उपस्थित', 'इरादा' के लिए 'संकल्प', 'बनावटी' के लिए 'कृत्रिम' शब्दों को काम में लाने की कोई खास जरूरत नहीं। प्रचलित शब्दों को उनके शुद्ध रूप में लिखने का रिवाज भी भाषा को अकारण ही कठिन बना देता है। खेत को क्षेत्र, बरस का वर्ष, छेद को छिद्र, काम को कार्य, सूरज को सूर्य, जमना को यमुना लिखकर आप मुँह और जीभ के लिए ऐसी कसरत का सामान रख देते हैं जिसे नब्बे फी सदी आदमी नहीं कर सकते। इसी मुश्किल को दूर करने और भाषा को सुबोध बनाने के लिए कवियों ने व्रजभाषा और अवधी में शब्दों के प्रचलित रूप ही रखे थे। जनता में अब भी उन शब्दों का पुराना बिगड़ा हुआ रूप चलता है, मगर हम विशुद्धता की धुन में पड़े हुए हैं।

मगर सवाल यह है, क्या इस हिन्दुस्तानी में क्लासिकल भाषाओं

के शब्द लिये ही न जायँ ! नहीं, यह तो हिन्दुस्तानी का गला घोंट देना होगा । आज साइंस की नयी-नयी शाखें निकलती जा रही हैं और नित नये शब्द हमारे सामने आ रहे हैं, जिन्हें जनता तक पहुँचाने के लिए हमें संस्कृत या फ़ारसी की मदद लेनी पड़ती है। क़िस्से-कहानियों में तो आप हिन्दुस्तानी जबान का व्यवहार कर सकते हैं, वह भी जब आप गद्य-काव्य न लिख रहे हों, मगर आलोचना या तनक़ीद, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन और अनेक साइंस के विषयों में क्लासिकल भाषाओं से मदद लिये बगैर काम नहीं चल सकता । तो क्या संस्कृत और अरबी या फ़ारसी से अलग-अलग शब्द बन जायँ ? ऐसा हुआ तो एकरूपता कहाँ आयी ! फिर तो वही होगा जो इस वक्त हो रहा है। जरूरत तो यह है कि एक ही शब्द लिया जाय, चाहे वह संस्कृत से लिया जाय, या फ़ारसी से, या दोनों को मिलाकर कोई नया शब्द गढ़ लिया जाय। Sex के लिए हिन्दी में कोई शब्द अभी तक नहीं बन सका । आम तौर पर 'स्त्री-पुरुष सम्बन्ध' इतना बड़ा शब्द उस भाव को जाहिर करने के लिए काम में लाया जा रहा है। उर्दू में 'जिन्स' का इस्तेमाल होता है। जिंसी, जिंसियत आदि शब्द भी उसी से निकले हैं। कई लेखकों ने हिन्दी में भी जिंसी, जिंस, जिंसियत का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। लेकिन यह मसला आसान नहीं है। अगर हम इसे मान लें कि हिन्दुस्तान के लिए एक कौमी जबान की जरूरत है, जिसे सारा मुल्क समझ सके तो हमें उसके लिए तपस्या करनी पड़ेगी । हमें ऐसी सभाएँ खोलनी पड़ेंगी जहाँ लेखक लोग कभी-कभी मिलकर साहित्य के विषयों पर, या उसकी प्रवृत्तियों पर आपस में खयालात का तबादला कर सकें। दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस के हेल मेल से उस दूरी को दूर करना होगा। राजनीति के पण्डितों ने कौम को जिस दुर्दशा में डाल दिया है, यह आप और हम सभी जानते हैं। अभी तक साहित्य के सेवकों ने भी किसी-न किसी रूप में राजनीति के पण्डितों का अनुसरण माना है, और उनके पीछे-पीछे चले हैं। मगर अब साहित्यकारों को

अपने विचार से काम लेना पड़ेगा। सत्यं, शिवं, सुन्दरं के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा। सियासियात ने सम्प्रदायों को दो कैम्पों में खड़ा कर दिया है। राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें। उसमें मेल होना उसकी मृत्यु है। इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वाँग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है। साहित्य धर्म को फ़िक़ेबन्दी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को सम्प्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है। किसी धर्म की महानता और फ़ज़ीलत इसमें है कि वह इन्सान को इन्सान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानवता (इन्सानियत) का कितना ऊँचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहाँ कितना अमल होता है। अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इन्सानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्मवालों के लिए है, और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं, सभी गैर हैं, और उन्हें ज़िन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज्यादा पसन्द करूँगा। धर्म नाम है उस रोशनी का जो कतरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी ज़ात को हमाओस्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्म में, मिले होने की अनुभूति या यकीन कराती है। और चूंकि हमारी तबीयतें एक-सी नहीं हैं, हमारे संस्कार एक-से नहीं हैं, हम उसी मंजिल तक पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख्तियार करते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का ज़हूर हुआ है। यह साहित्यसेवियों का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जाग्रति पैदा करें। धर्म के आचार्यों और राजनीति के पण्डितों ने हमें गलत रास्ते पर चलाया है। मगर मैं दूसरे विषय पर आ गया। हिन्दुस्तानी को व्यावहारिक रूप देने के लिए दूसरी तदबीर यह है कि मैट्रिकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हरेक छात्र के लिए लाज़मी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू में और मुसलमानों को हिन्दी में काफी महारत हो जायगी,

और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और सन्देह है, वह दूर हो जायगा। चूंकि इस वक्त भी तालीम का मीगा हमारे मिनिस्टरों के हाथ में है और करिकुलम में इस तब्दीली से कोई ज्यादा खर्च न होगा, इसलिए अगर दोनों भाई मिलकर यह मुतालबा पेश करें तो गवर्नमेंट को उसके स्वीकार करने में कोई इन्कार न हो सकेगा। मैं यकीन दिलाना चाहता हूँ कि इस तजवीज़ में हिन्दी या उर्दू किसी से भी बदसलूक नहीं किया गया है। साहित्यकार के नाते हमारा यह धर्म है कि हम मुल्क में ऐसी फ़िज़ा, ऐसा वातावरण लाने की चेष्टा करें जिससे हम जिन्दगी के हरेक पहलू में दिन दिन आगे बढ़ें। साहित्यकार पैदाइश से सौन्दर्य का उपासक होता है। वह जीवन के हरेक अङ्ग में, जिन्दगी के हरेक शोबे में, हुस्न का जलवा देखना चाहता है। जहाँ सामञ्जस्य या हम-आहंगी है वहीं सौन्दर्य है, वही सत्य है, वही हकीकत है। जिन तत्वों से जीवन की रक्षा होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है। वह वास्तव में हमारी आत्मा की बाहरी सूरत है। हमारी आत्मा अगर स्वस्थ है, तो वह हुस्न की तरफ़ बेअख़्तियार दौड़ती है। हुस्न में उनके लिए न रुकनेवाली कशिश है। और क्या यह कहने की जरूरत है कि नफ़रत और हसद, और सन्देह और संघर्ष, यह मनोविकार हमारे जीवन के पोषक नहीं बल्कि घातक हैं, इसलिए वह सुन्दर कैसे हो सकते हैं! साहित्य ने हमेशा इन विकारों के खिलाफ़ आवाज उठायी है। दुनिया में मानव-जाति के कल्याण के जितने आन्दोलन हुए हैं, उन सभी के लिए साहित्य ने ही जमीन तैयार की है, जमीन ही नहीं तैयार की, बीज भी बोये और उसकी सिंचाई भी की। साहित्य राजनीति के पीछे चलनेवाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलनेवाला 'एडवांस गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति, और कुरुचि से होता है। और लेखक अपनी कोमल भावनाओं के कारण उस विद्रोह की जबान बन जाता है। और लोगों के दिलों पर भी चोट लगती है, पर अपनी व्यथा को, अपने दर्द को दिल हिला देनेवाले शब्दों में वे जाहिर

नष्ट कर सकते। साहित्य का स्रष्टा उन चोटों को हमारे दिलों पर इस तरह अंकित करता है कि हम उनको तीव्रता को सौगुने वेग के साथ महसूस करने लगते हैं। इस तरह साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण। जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी ही रचनाओं से कौमें बनती हैं। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके नजदीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएँ लिखकर कामुकता को भड़काये, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है, जो प्रेम से लबरेज हो, उस प्रेम से नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, बल्कि उस प्रेम से जिसमें शक्ति है, जीवन है, आत्म-सम्मान है। अब इस तरह की नीति से हमारा काम न चलेगा।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर

अब तो हमें डा० इकबाल का शंखनाद चाहिए—

ब शाखे ज़िन्दगिये मा नमीज़े तिश्ना बसस्त
तलाशे चश्मए हैवाँ दलीले ब तलबीस्त। १
ता कुजा दर तहे बाले दिगराँ मी बाशी,
दर हवाये चमन आज़ाद परीदन् आमोज़।२

१) मेरे जीवन की डाली के लिए तृषा की तरी ही काफी है। अमृतकुंड की खोज में भटकना आकांक्षा के अभाव का प्रमाण है।

२) दूसरों के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हवा में आजाद होकर उड़ना सीखो।

दर जहाँ बाज़ो - परे ख़ेश कुशूदन आमोज़,
कि परीदन् नतवाँ बा परो बाले दिगराँ।३

जब हिन्दुस्तानी कौमी जबान है, क्योंकि किसी न किसी रूप में यह पन्द्रह-सोलह करोड़ आदमियों की भाषा है, तो यह भी जरूरी है कि हिन्दुस्तानी जबान में ही हमें भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पढ़ने को मिलें। आप जानते हैं, हिन्दुस्तान में बारह दर्जन भाषाएँ हैं और उनके साहित्य हैं। उन साहित्यों में जो कुछ संग्रह करने लायक है, वह हमें हिन्दुस्तानी जबान में ही मिलना चाहिये। किसी भाषा में भी जो-जो अमर साहित्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है। मगर अभी तक उन साहित्यों के द्वार हमारे लिए बन्द थे, क्योंकि हिन्दुस्तान की बारहों भाषाओं का ज्ञान विरले को ही होगा। राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं कि जिनकी एक विद्या, एक तहजीब हो, एक राजनैतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो। हम और आप दिल से चाहते हैं कि हिन्दुस्तान सच्चे मानी में एक कौम बने। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि भेद पैदा करने वाले कारणों को मिटावें और मेल पैदा करनेवाले कारणों को संगठित करें। कौम की भावना यूरप में भी दो-ढाई सौ साल से ज्यादा पुरानी नहीं। हिन्दुस्तान में तो यह भावना अंग्रेजी राज के विस्तार के साथ ही आयी है। इस गुलामी का एक रोशन पहलू यही है कि उसने हम में कौमियत की भावना को जन्म दिया। इस खुदादाद मौके से फायदा उठाकर हमें कौमियत के अटूट रिश्ते में बँध जाना है। भाषा और साहित्य का भेद ही खास तौर से हमें भिन्न-भिन्न प्रांतीय जत्थों में बाँटे हुए हैं। अगर हम इस अलग करने वाली बाधा को तोड़ दें तो राष्ट्रीय संस्कृति की एक धारा बहने लगेगी जो कौमियत की सबसे मज-

३) दुनिया में अपने डैने-पंखे को फैलाना सीखो। क्योंकि दूसरे के डैने-पंखे के सहारे उड़ना सम्भव नहीं है।

बूत भावना है। यही मक़सद सामने रखकर हमने 'हंस' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालनी शुरू की है, जिसमें हरेक भाषा के नये और पुराने साहित्य की अच्छी-से-अच्छी चीज़ें देने की कोशिश करते हैं। इसी मक़सद को पूरा करने के लिए हमने एक भारतीय साहित्य परिषद् या हिन्दुस्तान की कौमी अदबी सभा की बुनियाद डालने की तजवीज की है और परिषद् का पहला जलसा २३, २४* को नागपूर में महात्मा गाँधी की सदारत में करार पाया है। हम कोशिश कर रहे हैं कि परिषद् में सभी सूबे के साहित्यकार आयें और आपस में ख़यालात का तबादला करके हम तजवीज को ऐसी सूरत दें, जिसमें वह अपना मकसद पूरा कर सके। आज सूबों में अभी से प्रांतीयता के जज़बात पैदा होने लगे हैं। 'सूबा सूबेवालों के लिए' की सदाएँ उठने लगी हैं। 'हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए' की सदा इस प्रांतीयता की चीख़ पुकार में कहीं डूब न जाय, इसका अंदेशा अभी से होने लगा है। अगर बंगाल बंगाल के लिए, पंजाब पंजाब के लिए की हवा ने ज़ोर पकड़ा तो वह कौमियत की जो जन्नत गुलामी के पसीने और ज़िल्लत से बनी थी मादूम हो जायगी और हिन्दुस्तान फिर छोटे-छोटे राजों का समूह होकर रह जायगा। और फिर कयामत के पहले उसे पराधीनता की कैद से नजात न होगी। हमें अफ़सोस तो यह है कि इस किस्म की सदाएँ उन दिशाओं से आ रही हैं, जहाँ से हमें एकता की दिल बढ़ानेवाली सदाओं की उम्मीद थी। डेढ़ सौ साल की गुलामी ने कुछ-कुछ हमारी आँखें खोलनी शुरू की थीं कि फिर वही प्रान्तीयता की आवाज़ें पैदा होने लगीं और इस नयी व्यवस्था ने उन भेद-भावों के पलने-फूलने के लिए ज़मीन तैयार कर दी है। अगर 'प्राविंशल अटानोमी' ने यह सूरत अख़्तियार की तो यह हिन्दुस्तानी कौमियत की जवान मौत नहीं, बाल मृत्यु होगी। और यह तफ़रीक जाकर रुकेगी कहाँ उसकी तो कोई इति ही नहीं।

* २३, २४ अप्रैल, १९३६।

सूबा सूबे के लिए, जिला जिले के लिए, हिन्दू हिन्दू के लिए, मुसलिम मुसलिम के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सक्सेना सक्सेना के लिए, इतनी दीवारों और कोठरियों के अन्दर कौमियत कै दिन साँस ले सकेगी! हम देखते हैं कि ऐतिहासिक परम्परा प्रान्तीयता की ओर है। आज जो अलग अलग सूबे हैं किसी जमाने में अलग-अलग राज थे, कुदरती हदें भी उन्हें दूसरे सूबों से अलग किये हुए हैं, और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति सब एक हैं। लेकिन एकता के ये सारे साधन रहते हुए भी वह अपनी स्वाधीनता को कायम न रख सके, इसका सबब यही तो है कि उन्होंने अपने को अपने किले में बन्द कर लिया और बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध न रखा। अगर उसी अलहदगी की रीति से वह फिर काम लेंगे तो फिर शायद तारीख अपने को दोहराये। हमें तारीख से यह सबक न लेना चाहिए कि हम क्या थे, यह भी देखना चाहिए कि हम क्या हो सकते थे। अक्सर हमें तारीख को भूल जाना पड़ता है। भूल हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता। जिन कुपथ्यों से हम बीमार हुए थे, क्या अच्छे हो जाने पर फिर वही कुपथ्य करेंगे! और चूँकि इस अलहदगी की बुनियाद भाषा है, इसलिए हमें भाषा ही के द्वार से प्रान्तीयता की काया में राष्ट्रीयता के प्राण डालने पड़ेंगे। प्रान्तीयता का सदुपयोग यह है कि हम उस किसान की तरह जिसे मौरूसी पट्टा मिल गया हो अपनी जमीन को खूब जोतें, उसमें खूब खाद डालें और अच्छी-से-अच्छी फसल पैदा करें। मगर उसका यह आशय हर्गिज न होना चाहिए कि हम बाहर से अच्छे बीज और अच्छी खाद लाकर उसमें न डालें। प्रान्तीयता अगर अयोग्यता को कायम रखने का बहाना बन जाय तो यह उस प्रान्त का दुर्भाग्य होगा और राष्ट्र का भी। हमें बड़े खतरे का सामना करना होगा और वह मेल पैदा करनेवाली शक्तियों को संगठित करने ही से हो सकता है।

दूसरे, साहित्यिक जागृति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है।

साहित्य की सबसे अच्छी तारीफ जो की गयी है, वह यह है कि वह अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग के अच्छे से अच्छे भावों और विचारों का संग्रह है। आपने अँग्रेजी साहित्य पढ़ा है। उन साहित्यिक चरित्रों के साथ आपने उससे कहीं ज्यादा अपनापा महसूस किया है जितना आप किसी यहाँ के साहब बहादुर से कर सकते हैं। आप उसकी इंसानी सूरत देखते हैं, जिसमें वही वेदनाएँ हैं, वही प्रेम है, वही कमजोरियाँ हैं, जो हममें और आप में हैं। वहाँ वह हुकूमत और गुरूर का पुतला नहीं, बल्कि हमारे और आपका-सा इन्सान है जिसके साथ हम दुखी होते हैं, हँसते हैं, सहानुभूति करते हैं। साहित्य बदगुमानियों को मिटानेवाली चीज है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, तो मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे से कहीं ज्यादा निकट पायें। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हम दोनों जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं! यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होंने हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक हर एक मुमकिन विषय पर तहकीकातें की हैं, पुस्तकें लिखी हैं, वह हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। उसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही में मग्न हैं। साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला के मार्के की तारीख पढ़ी है, यह असम्भव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ा है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम-से-कम उत्तरी हिन्दुस्तान में हरेक शिक्षित हिन्दू मुसलिम को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिए, अगर वह मुसलमान है तो हिन्दुओं के और हिन्दू है तो मुसलमानों के साहित्य से

अपरिचित है। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाजमी है। और जब हम जिन्दगी के पंद्रह साल अँगरेजी हासिल करने में कुरबान करते हैं तो क्या महीने-दो-महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते, जिस पर हमारी कौमी तरक्की ही नहीं, कौमी जिन्दगी का दारोमदार है!

आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में दिया गया भाषण।

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अंग है। श्रीमती खलीदा अदीब खानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो; परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्त्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासनकाल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की *भावना अपेक्षाकृत बहुत देर से संसार में उत्पन्न हुई है* और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेजी राज्य की स्थापना के साथ साथ हुआ। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अंगों

और तत्वों में कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंगरेजी राज उठ जाय तो इन तत्वों में जो एकता इस समय दिखायी दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा नया संघटन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध हो न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेजों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिये यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जब कि भिन्न भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक मण्डल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के काबिल हो जायगी।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो! आजकल भिन्न भिन्न प्रान्तों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं, उनमें तो राष्ट्रीय भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उनमें खींचातानी हो रही है।

यहाँ तक कि इस मतभेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव समझकर हिम्मत न हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी न किसी प्रकार मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतन्त्र उन्नति और विकास के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते। उन्होंने यह मान लिया है कि आरम्भ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनों में मेल और एकता होना असम्भव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है। उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते। फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुँचावें ?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने-आपको अपने जन्म स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विकास के सम्बन्ध में कोई आपत्ति न हो। बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू और कनड़ी आदि प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उन्हें अधिकार है कि वे अपने अन्दर चाहे जितनी संस्कृत, अरबी या लैटिन आदि भरती चलें। उन भाषाओं के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं; परन्तु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहाँ तो दोनों ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं। परन्तु वे अपने व्यक्तिगत

रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसीलिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरम्भ हो गया। और दोनों का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी जबान कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की *राष्ट्रीय-भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी* के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है *जिसका आधार सर्व-सामान्य बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक* शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह फारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मान-दण्ड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं या नहीं। और जन साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्र और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या पारिभाषिक शब्द जन *साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि* यह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंगरेजों की भाषा अंगरेजी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिन्दुस्तानी कहना केवल *उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिन्दुस्तान न कहकर केवल हिन्द कहें तो इसकी भाषा को हिन्दी कह सकते हैं।* लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिन्दुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा को हिन्दी ही कहते

ये और खुसरो ने खालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रन्थ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जनसाधारण को आवश्यकता के शब्द उन्हें दोनों ही रूपों में सिखलाये जायें, जिसमें उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहाँ हुई थी। जो हो, परन्तु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी, बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उसके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है लेकिन फिर भी लिखी कहीं नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिक उसे टाट बाहर कर देते हैं। वास्तव में उर्दू और हिन्दी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन साधारण के लिए नहीं लिखते बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएँ जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश में भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नहीं हुआ करतीं। जो अंग्रेजी हम किताबों और अखबारों में पढ़ते हैं, वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े लिखे लोग भी उस भाषा में बातचीत नहीं करते जिस भाषा में ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं। और जन साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इंग्लैण्ड के हरएक पढ़े लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जानेवाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परन्तु आज क्या परिस्थिति है? हमारे हिन्दीवाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हें 'मनुष्य' से तो प्रेम है परन्तु 'आदमी' से पूरी पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण में भली भांति

प्रचलित है परन्तु फिर भी उनके यहाँ इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना पत्र' ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन साधारण इसका मतलब बिल्कुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सकते और इसके स्थान पर 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, परन्तु उन्हें 'वायुयान' को सैर ही पसन्द है। उर्दू वाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'खुदा' को तो मानते हैं, परन्तु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत से कर सकते हैं, परन्तु 'अपराध' कभी नहीं कर सकते। 'खिदमत' तो उन्हें बहुत पसन्द है, परन्तु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिये हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिसमें दोनों एक दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें और वह भी सिर्फ मेहमान की हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। साधारण हिन्दुस्तानी के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अँग्रेजी भाषा के भी अनेक रंग हैं। कहीं लैटिन और यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लोसैक्सन शब्दों की। परन्तु हैं दोनों ही अँग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें, जो कोई नयी भाषा नहीं है बल्कि उर्दू और हिन्दी [illegible] स्वरूप है।

संयुक्त प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित

भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अन्तर ही नहीं होता। इसमें शिक्षा-विभाग का उद्देश्य यह होता कि इस प्रकार विद्यार्थियों में बचपन में ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली-भाति परिचित हो जायँगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गयी हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों का कुछ भी साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए एक साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़नेवाले लड़कों के पास पारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भण्डार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहा उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुँच जाती है, अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं, लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि आदि। इसी तरह उर्दू का झण्डा लेकर चलनेवाले कहते हैं कि पारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे पारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं।

अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या सम्बन्धी भंडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली में गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इस-लिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जायँ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायँ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप पहुँचते जायँ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणत हो जाय। हिन्दुस्तान के हरएक सूबे में मुसलमानों की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्तप्रान्त के सिवा और-और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मदरास का तामिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्तप्रान्त और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं?

हमारे सूबे के देहातों में रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान ही बोलते हैं।

बोल-चाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोल-चाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोल-चाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी हो हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पण्डितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्तमान कोषों में दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषों में दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाये जा सकते और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते? क्या हमारी स्मरण शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अँग्रेज़ी के असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े से शब्द भी याद नहीं कर सकते? उर्दू और हिन्दी भाषाओं में न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बँगला की तो लिपियाँ भी देवनागरी से मिलती जुलती हैं। यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिलकुल भिन्न हैं; परन्तु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फारसी के शब्द भी सभी प्रान्तीय भाषाओं में कुछ न-कुछ मिलते हैं। परन्तु उनमें संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती, जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिलकुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रान्तों के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी सहज में समझ सकते हैं परन्तु

फारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त प्रान्त और पंजाब के नगरों और कस्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं; लेकिन उर्दू बोलनेवाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष में बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिन्धी भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है; परन्तु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत, अरबी और फारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिलकुल अलग अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में किस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परन्तु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमें नहीं लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द भण्डारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान सम्बन्धी

पारिभाषिक शब्द बनाये गये हैं और अभी यह काम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें? इस समय सभी लोगों को अलग अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अँग्रेज़ी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अँग्रेज़ी में ही प्रचलित नहीं हैं बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में उनसे मिलते जुलते पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है और मिस्र में भी थोड़े बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग अलग पारिभाषिक शब्द बना लिये तो फिर भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बँगला, मराठी, गुजराती और कन्नड़ी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती हैं। उर्दू भी अरबी और फ़ारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अँग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आईन अकबरी' ने हिन्दू दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशों से अपने अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आती हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरल और कोमल न होगी। परन्तु सरसता और कोमलता का मान दण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अँग्रेजी टोपी बेजोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखायी देती है। स्त्रियों के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ हैं; परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरसता नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरसता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिए। जब कि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें, जिसमें हरएक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें! जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें! अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुञ्जाइश नहीं है।

अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक आदान-प्रदान के लिए

[इस शीर्षक के अन्तर्गत लेखक की चार महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं जिनसे साहित्य और भाषा के अनेक सवालों पर रोशनी पड़ती है। ये टिप्पणियाँ अलग अलग मौक़ों पर लिखी गयीं, लेकिन इनके पीछे काम करनेवाला विचार एक ही है, इसलिए इन्हें एक स्थान पर दिया जा रहा है।

—संग्रहकर्ता]

१ : एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता

भारत में विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की आलइंडिया संस्थाएँ तो हैं; लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए, साधारण जनता को अन्य प्रान्तों की साहित्यिक प्रगति की कोई खबर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है।

बंगाल के दो-चार कलाकारों के नाम से तो हम परिचित हैं; लेकिन गुजराती, तामिल, तेलुगू और मलयालम आदि भाषाओं के निर्माताओं से हम बिल्कुल अपरिचित हैं। अँग्रेज़ी साहित्य का तो ज़िक्र ही क्या, फ्रांस, जर्मनी, रूस, पोलैंड, स्वेडेन, बेलजियम आदि देशों के साहित्य से भी अँग्रेज़ी अनुवादों द्वारा हम कुछ न कुछ परिचित हो गये हैं; लेकिन बँगला को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की प्रगति का हमें बिल्कुल ज्ञान नहीं है। हरेक प्रान्तीय भाषा अपना सम्मेलन अलग-अलग करती

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरल और कोमल न होगी। परन्तु सरलता और कोमलता का मानदण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अँग्रेज़ी टोपी बेढंगी और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखायी देती है। स्त्रियों के लिए लम्बे लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष साधन है; परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरलता नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरलता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिए। जब कि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें, जिसमें हरएक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुञ्जाइश नहीं है।

अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक आदान-प्रदान के लिए

[इस शीर्षक के अन्तर्गत लेखक की चार महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं जिनसे साहित्य और भाषा के अनेक सवालों पर रोशनी पड़ती है। ये टिप्पणियाँ अलग अलग मौक़ों पर लिखी गयीं, लेकिन इनके पीछे काम करनेवाला विचार एक ही है, इसलिए इन्हें एक स्थान पर दिया जा रहा है।

—संग्रहकर्ता]

१ : एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता

भारत में विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की आलइंडिया संस्थाएँ तो हैं; लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए, साधारण जनता को अन्य प्रान्तों की साहित्यिक प्रगति की कोई ख़बर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है।

बंगाल के दो-चार कलाकारों के नाम से तो हम परिचित हैं; लेकिन गुजराती, तामिल, तेलुगू और मलयालम आदि भाषाओं के निर्माताओं से हम बिल्कुल अपरिचित हैं। अँग्रेज़ी साहित्य का तो ज़िक्र ही क्या, फ्रांस, जर्मनी, रूस, पोलैंड, स्वेडेन, बेलजियम आदि देशों के [illegible] से भी अँग्रेज़ी अनुवादों द्वारा हम कुछ न कुछ [illegible]

[illegible]

ज्ञान नहीं है। [illegible]

है। साहित्य भी उसी जलवायु में पूरी तरह विकास पा सकता है, जब उसमें आदान-प्रदान होता रहे, उसे चारों तरफ़ से हवा और रोशनी आज़ादी के साथ मिलती रहे। प्रान्तीय चारदीवारी के अन्दर साहित्य का जीवन भी पीला, मुर्दा और बे-जान होकर रह जायगा। यही विचार थे, जिन्होंने हमें इस परिषद् की बुनियाद डालने को आमादा किया, और यद्यपि अभी हमें वह कामयाबी नहीं हुई है जिसकी हमने कल्पना की थी पर आशा है कि एक दिन यह परिषद् सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तान का साहित्यिक परिषद् बन जायगा। इस साल तो प्रान्तीय परिषदों से बहुत कम लोग आये थे। इसका एक कारण यह हो सकता है कि हमें जल्दी से काम लेना पड़ा। हम पहले से अपना कार्यक्रम निश्चित न कर सके, प्रान्तीय साहित्यकारों को काफी समय पहले कोई सूचना न दी जा सकी। महात्माजी की बीमारी के कारण दो बार तारीखें बदलनी पड़ीं। इतने थोड़े समय में जो कुछ हुआ, वही ग़नीमत है। हमें गर्व है कि परिषद् की बुनियाद महात्माजी के हाथों पड़ी। अपने जीवन के अन्य विभागों की भाँति साहित्य में भी, जिसका जीवन से गहरा सम्बन्ध है, उन्होंने लोकवाद का समावेश किया है और गुजराती-साहित्य में एक खास शैली और स्कूल के आविष्कारक हैं। आपने बहुत ठीक कहा कि—

'मेरी दृष्टि में तो साहित्य की कुछ सीमा-मर्यादा होनी चाहिए। मुझे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने का मोह कभी नहीं रहा है। प्रत्येक प्रान्त की भाषा में लिखी और छपी प्रत्येक पुस्तक का परिचय दूसरी सब भाषाओं में होना मैं आवश्यक नहीं मानता। ऐसा प्रयत्न यदि संभव भी हो, तो उसे मैं हानिकर समझता हूँ। जो साहित्य एकता का, नीति का, शौर्यादि गुणों का, विज्ञान का पोषक है उसका प्रचार प्रत्येक प्रान्त में होना आवश्यक और लाभदायक है। भारतीय परिषद् का यही उद्देश्य होना चाहिए कि प्रान्तीय भाषाओं में जो कुछ ऊँचा उठाने वाला, जीवन देनेवाला, बुद्धि और आत्मा का परिष्कार करने वाला अंश है—उसी का हिन्दुस्तानी द्वारा दूसरी भाषाओं को परिचय कराया जाय।'

आगाह हो रहा है। गुप्ति धाराएँ अपने एकान्त पथ पर चलकर और अलग-अलग दूर हो गई हैं। इन धाराओं को सम्मिलित करके हम प्रबल और प्रगति उत्पन्न कर सकते हैं। और यह हिन्दी साहित्य का नैसर्गिक कर्तव्य है।

❖

२ : भारतीय साहित्य-परिषद्

आज से कई मास पहले हमारे मन में जो एक साहित्यिक क उठी थी, वह चौबीस एप्रिल को भारतीय साहित्य-परिषद् के रू मूर्तिमान् हो गई। विचार यह था कि हिन्दुस्तान में जहाँ संस्कृ अन्य सभी अंगों की अपनी-अपनी अलग आॅल इंडिया संस्थाएँ हैं, साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं, हालाँ कि साहित्य किसी राष्ट्र तहज़ीब का सबसे बलवान् अंग है। कोई ऐसा प्लेटफार्म तो हे चाहिए जिस पर हिन्दुस्तान के हरेक साहित्य के जाने-माने लोग मि आपस में समाज और साहित्य के अनेक प्रश्नों पर अपने विचारों तबादला कर सकें, एक दूसरे के सम्पर्क से उनमें मित्रता और प का भाव मज़बूत हो, उनकी नज़र फैले, और वह साहित्यिक मानसिक प्रान्तीयता, जो रोज़ बढ़ती जा रही है, और जिससे कं बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचने का डर है, मुनासिब हदों के अन्दर किसी हद तक स्पर्धा की तो ज़रूरत है। इसके बग़ैर जीवन में नहीं आती, लेकिन जब यह स्पर्धा ईर्ष्या और संकीर्णता की अख्तियार कर लेती है, तब वह समाज के लिए घातक हो जाती इस तरक्की करने वाले युग में नित्य नये मसले पैदा होते जा रहे हैं साहित्यिकों को अपने लिए कोई ठीक रास्ता निकालना मुश्किल हो

है। साहित्य भी उसी जलवायु में पूरी तरह विकास पा सकता है, जब उसमें आदान-प्रदान होता रहे, उसे चारों तरफ़ से हवा और रोशनी आज़ादी के साथ मिलती रहे। प्रान्तीय चारदीवारी के अन्दर साहित्य का जीवन भी पीला, मुर्दा और बे-जान होकर रह जायगा। यही विचार थे, जिन्होंने हमें इस परिषद् की बुनियाद डालने को आमादा किया, और यद्यपि अभी हमें वह कामयाबी नहीं हुई है जिसकी हमने कल्पना की थी पर आशा है कि एक दिन यह परिषद् सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तान का साहित्यिक परिषद् बन जायगा। इस साल तो प्रान्तीय परिषदों से बहुत कम लोग आये थे। इसका एक कारण यह हो सकता है कि हमें जल्दी से काम लेना पड़ा। हम पहले से अपना कार्यक्रम निश्चित न कर सके, प्रान्तीय साहित्यकारों को काफ़ी समय पहले कोई सूचना न दी जा सकी। महात्माजी की बीमारी के कारण दो बार तारीखें बदलनी पड़ीं। इतने थोड़े समय में जो कुछ हुआ, वही ग़नीमत है। हमें गर्व है कि परिषद् की बुनियाद महात्माजी के हाथों पड़ी। अपने जीवन के अन्य विभागों की भाँति साहित्य में भी, जिसका जीवन से गहरा सम्बन्ध है, उन्होंने लोकवाद का समावेश किया है और गुजराती-साहित्य में एक ख़ास शैली और स्कूल के आविष्कारक हैं। आपने बहुत ठीक कहा कि—

'मेरी दृष्टि में तो साहित्य की कुछ सीमा-मर्यादा होनी चाहिए। मुझे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने का मोह कभी नहीं रहा है। प्रत्येक प्रान्त की भाषा में लिखी और छपी प्रत्येक पुस्तक का परिचय दूसरी सब भाषाओं में होना मैं आवश्यक नहीं मानता। ऐसा प्रयत्न यदि संभव भी हो, तो उसे मैं हानिकर समझता हूँ। जो साहित्य एकता का, नीति का, शौर्यादि गुणों का, विज्ञान का पोषक है उसका प्रचार प्रत्येक प्रान्त में होना आवश्यक और लाभदायक है। भारतीय परिषद् का यही उद्देश्य होना चाहिए कि प्रान्तीय भाषाओं में जो कुछ ऊँचा उठाने वाला, जीवन देनेवाला, बुद्धि और आत्मा का परिष्कार करने वाला अंश है—उसी का हिन्दुस्तानी द्वारा दूसरी भाषाओं को परिचय कराया जाय।'

'धर्माचार्य तो जीवन की वास्तविकता से कोसों दूर है। वे तो
के आदर्शों को भी नहीं समझते। प्राचीन आदर्श पर जो ज़
उसी को वे धर्म का रहस्य मान बैठे हैं।'

'यह नियंत्रण तभी सफल हो सकेगा जब वह साहित्य की
से निकलेगा, जब भारतीय परिषद् पूर्ण रूप से विकसित होकर इ
होगा कि संस्कृति के ऐसे महान् अंग को कलुषित प्रवृत्तियों से
इसी तरह अनेक प्रश्नों पर परिषद् साहित्य-समाज की हित
करता रहेगा।'

आपने भी महात्माजी के इस कथन का समर्थन किया कि
साहित्य का आदर्श जन-सेवा होना चाहिए—

'जो साहित्य केवल विलासिता का ही आदर्श अपने सामने
है, उसके संगठन करने की आवश्यकता ही क्या! हम तो जन
लिए ही साहित्य की सेवा करने में प्रवृत्त हुए हैं। भाषा जन से
कीमती साधन है। इसीलिए हम उसका महत्त्व मानते हैं।
एकता के बिना, संस्कृति-विनिमय के बिना, लोक-जीवन प्रसन्न, पु
और परिपूर्ण नहीं हो सकता है।'

परिषद् के स्वीकृत प्रस्तावों में एक प्रस्ताव इसी उद्देश्य को पू
लिए रक्खा गया था—

अ) जो साहित्य जीवन के उच्च आदर्शों का विरोधी हो,
को बिगाड़ता हो, अथवा साम्प्रदायिक सद्भावना में बाधा डाल
ऐसे साहित्य को यह परिषद् हरगिज़ प्रोत्साहित न करेगा।

आ) लोक-जीवन के जीवित और प्रत्यक्ष सवालों को हल
वाले साहित्य के निर्माण को यह परिषद् प्रोत्साहन देगा।

परिषद् का अभी कोई विधान नहीं बन पाया है। उसके बन
के लिए एक कमेटी बन गई है, और वही उसका विधान भी बना
और कार्यक्रम का निश्चय भी करेगी। हमारी अभिलाषा है कि
देशिक संस्था हो, ताकि यह हिन्दुस्तान की साहि

एकाडेमी का पद ले सके। उसमें किसी सम्मेलन या भाषा को प्रधानता देना उसके लिए घातक होगा। उसे किसी भी प्रान्तीय-परिषद् के अंतर्गत न होकर पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिए। प्रान्तीय परिषदों को उसके लिए मेम्बरों को चुनने का अधिकार होगा और उन्हें चाहिए कि ऐसे ही महानुभावों को उसमें भेजें जिन्होंने अपनी साहित्य-सेवा और लगन से यह अधिकार प्राप्त कर लिया है। अगर वहाँ भी गिरोहबन्दी हुई, तो परिषद् की उपयोगिता गायब हो जायगी। यहाँ सम्मान और अधिकार बाँटने का प्रश्न नहीं है। यहाँ तो ऐसे साहित्य सेवियों की ज़रूरत है, जो हमारे साहित्य को ऊँचा उठा सकें, उसमें प्रगति ला सकें, उसमें सार्वजनिकता पैदा कर सकें। महात्माजी ने इस विषय में जो सलाह दी है, वह हमें हृदयगम कर लेनी होगी—

'हमें अब सोच लेना है कि साहित्य सम्मेलन के कार्य और भारतीय-परिषद् के कार्य में कुछ अतिव्याप्ति है या नहीं। साहित्य-सम्मेलन का कर्तव्य अन्य साहित्यों का संगठन करना नहीं है। उसका कर्तव्य तो हिन्दी-भाषा की सेवा करना है और हिन्दी का देश में प्रचार बढ़ाना है। इस परिषद् का उद्देश्य हिन्दी भाषा की सेवा करना नहीं है। इसका उद्देश्य तो अन्य साहित्यों के रत्न इकट्ठे करके उसे देश के आम वर्ग के सामने रखना है।'

इस वक्त भी कई प्रान्तों को परिषद् के नेक इरादों में विश्वास नहीं है। उनका ख्याल है, कि हिन्दी वालों ने उन पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए यह नया स्वांग रचा है। उनके दिल से यह सन्देह मिटाना होगा और तभी वे उसमें शरीक होंगे और परिषद् वास्तव में हिन्दुस्तान के साहित्य परिषद् का गौरव पा सकेगा।

३ : भारतीय साहित्य परिषद् की असल हक़ीक़त

हैदराबाद के रिसाला 'उर्दू' में मौलाना अब्दुल हक़ साहब ने भारतीय साहित्य-परिषद् के जलसे का मज़िम हाल लिखते हुए कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो हमारे ख़याल में ग़लतफ़हमी के कारण पैदा हुई हैं, और उन शंकाओं के रहते हुए हमें भय है कि कहीं परिषद् को उर्दू के सहयोग से हाथ न धोना पड़े। इसलिए ज़रूरी मालूम होता है कि उस विषय पर हम अपने विचार प्रकट करके उन शंकाओं को मिटाने की चेष्टा करें। भारतीय साहित्य-परिषद् ने जब हिन्दुस्तान के सभी साहित्यों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया, तो इसीलिए कि इस साहित्यिक उद्योग में हम सब राजनैतिक मतभेदों को भूलकर शरीक हों, और कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र में तो एकता का अनुभव कर सकें। अगर परिषद् के बानियों का उद्देश्य इस बहाने से केवल हिन्दी का प्रचार करना होता, तो उसे सभी साहित्यों को नेवता देने की कोई ज़रूरत न थी। हिन्दी-प्रचार का काम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा के ज़रिये हो रहा है। उस काम के लिए एक नया परिषद् ही क्यों बनाया जाता। हमारे सामने यही, और एक मात्र यही उद्देश्य था कि हिन्दुस्तान में कोई ऐसी संस्था बनाई जाय जिसमें सभी भाषाओं के साहित्यकार आपस में मिलें, साहित्य और समाज के नये-नये जटिल प्रश्नों पर विचार करें, साहित्य की नई विचारधाराओं की आलोचना करें, और इस तरह उनमें एक विशाल बिरादरी के अङ्ग होने की भावना जागे, उनमें आत्म विश्वास पैदा हो, उन्हें दूसरे साहित्यों का ज्ञान हो और अपने साहित्य में जो कमी नज़र आये, उसे पूरा कराने की प्रेरणा मिले। यह सभी मानते हैं कि अगर हिन्दुस्तान का जिन्दा रहना है, तो वह एक राष्ट्र के रूप में ही ज़िन्दा रह सकता है, एक राष्ट्र बनकर ही वह संसार की संस्कृति में अपने स्थान की रक्षा कर सकता है, अपने खोये हुए गौरव

को पा सकता है। अलग-अलग राष्ट्रों के रूप में तो उसकी दशा फिर वही हो जायगी, जो मुसलमानों और उसके बाद अँग्रेज़ों के आने के समय थी। हममें से कोई भी यह नहीं चाहता कि हमारे प्रान्तीय भेद भाव फिर वही रूप धारण करें कि जब एक प्रांत शत्रु के पैरों के नीचे पड़ा हो, तो दूसरा प्रान्त ईर्ष्यामिश्रित हर्ष के साथ दूर से बैठा तमाशा देखता रहे। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि अँग्रेजों के आने के पहले हममें राष्ट्रीय भावना का नाम भी न था। यह सच है कि उस वक्त राष्ट्र-भावना इतनी प्रबल और विकसित न हुई थी, जितनी आज है, फिर भी यूरोप में इस भावना का उदय हो गया था। उदय ही नहीं हो गया था, प्रखर भी हो गया था। अँग्रेज़ों की संगठित राष्ट्रीयता के सामने हिन्दुस्तान की असंगठित, बिखरी हुई जनता को परास्त होना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि उस वक्त भी हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक एकता किसी हद तक मौजूद थी; मगर वह एकता कुछ उसी तरह की थी, जैसी आज यूरोप के राष्ट्रों में पाई जाती है। वेदों और शास्त्रों को सभी मानते थे, जैसे आज बाइबल को सारा यूरोप मानता है। राम और कृष्ण और शिव के सभी उपासक थे, जैसे सारा यूरोप ईसा और अनेक महात्माओं का उपासक है। कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति आदि का आनन्द सभी उठाते थे, जैसे सारा यूरोप होमर और वर्जिल या प्लेटो और अरस्तू का आनन्द उठाता है। फिर भी उनमें राष्ट्रीय एकता न थी। यह एकता अँग्रेज़ी-राज्य का दान है और जहाँ अँग्रेज़ी राज्य ने देश का बहुत कुछ अहित किया है, वहाँ एक बहुत बड़ा हित भी किया है, यानी हममें राष्ट्रीय भावना पैदा कर दी। अब यह हमारा काम है कि इस मौक़े से फ़ायदा उठायें और उस भावना को इतना सजीव, इतना घनिष्ट बना दें कि यह किसी आघात से भी हिल न सके। प्रान्तीयता का मर्ज़ फिर ज़ोर पकड़ने लगा है। उसके साफ़-साफ़ लक्षण दिखाई देने लगे हैं। इन दो सदियों की ग़ुलामी में हमने जो सबक़ सीखा था, वह हम अभी से भूलने लगे हैं, हालाँकि ग़ुलामी अभी ज्यों-

की-त्यों क़ायम है। अनुमान कह रहा है कि प्रांतिशल आयो
ही प्रान्तीयता और भी ज़ोर पकड़ेगी, प्रान्तों में द्वेष बढ़ेगा
राष्ट्र-भावना कमज़ोर पड़ जायगी। भारतीय परिषद् का उ
साहित्यिक संगठन, सच्चे साहित्यिक आदर्शों का प्रचार और
सहयोग था, वहाँ एक उद्देश्य यह भी था कि उस संगठन और
द्वारा हमारी राष्ट्र-भावना भी बलवान् हो। हमारा यह मनोभाव
कि इस उद्योग से हम प्रान्तीय साहित्यों की उन्नति और विकास
डालें। जब हमारी मातृभाषाएँ अलग हैं, तो साहित्य भी अल
अगर एक-एक प्रान्त रहकर हम अपना अस्तित्व बनाये रह सकें
इस तरह के उद्योग की ज़रूरत ही न होती; लेकिन हम यह अनु
हैं कि हमारा भविष्य, राष्ट्रीय एकता के हाथ है। उसी पर हमा
और मौत का दारमदार है। और राष्ट्रीय एकता के कई अंगों
और साहित्य की एकता भी है। इसलिए साहित्यिक एकता के
साथ एक भाषा का प्रश्न भी अनायास ही बिना बुलाये मेहमान
आ खड़ा होता है। भाषा के साथ लिपि का प्रश्न भी आ
है। और परिषद् के इस जलसे में भी ये दोनों प्रश्न आ गये।

झगड़ा हुआ भाषा पर, यानी साहित्य-परिषद् भाषा के किस
आश्रय ले। 'हिन्दी' शब्द से उर्दू को उतनी ही चिढ़ है जितनी '
हिन्दी को है। और यह भेद केवल नाम का नहीं है। हिन्दी जि
में लिखी जा रही है, उसमें संस्कृत के शब्द बेतकल्लुफ़ आते हैं
जिस रूप में लिखी जाती है उसमें फ़ारसी और अरबी के शब्द बेत
आते हैं। इन दोनों का बिचला रूप हिन्दुस्तानी है, जिसका आ
साधारण बोल-चाल की ज़बान है, जिसमें किसी भाषा के
[illegible] नहीं किया जाता, अगर वह बोल-चाल में आते हैं। हि
'हिन्दुस्तानी' चाहे उतना प्रिय न हो; पर उर्दू को 'हिन्दुस्तान
[illegible] करने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि उसे वह अपनी परि
परिषद् में 'हिन्दुस्तानी' को अपना माध्यम बना

स्वीकार करके 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' को स्वीकार किया। उर्दू वालों को 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' का मतलब समझ में न आया, शायद वह समझे कि हिन्दी हिन्दुस्तानी केवल हिन्दी का ही दूसरा नाम है। यही उन्हें भ्रम हुआ कि शायद हिन्दुस्तानी के साथ हिन्दी को जोड़कर उर्दू के साथ अन्याय हो रहा है। इसी बदगुमानी में पड़कर मौलाना अब्दुल हक़ साहब के कलम से ये शब्द निकले हैं—

'एक दिन वह था कि महात्मा गान्धी ने हिन्दुस्तानी यानी उर्दू ज़बान और फ़ारसी हरूफ़ में अपने दस्तेख़ास से हकीम अजमलख़ाँ का ख़त लिखा था और आज वह वक़्त आ गया है कि उर्दू तो उर्दू, वह तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ़्ज़ भी लिखना और सुनना पसन्द नहीं करते। उन्होंने अपनी गुफ़्तगू में एक बार नहीं कई बार फ़रमाया कि अगर रेज़ोल्यूशन में तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ़्ज़ रक्खा गया तो उसका मतलब उर्दू समझा जायगा लेकिन उनको नेशनल कांग्रेस के रेज़ोल्यूशन में तनहा हिन्दुस्तानी का लफ़्ज़ रखते हुए यह ख़याल न आया। आख़िर इसकी क्या वजह है? कौन से ऐसे असबाब पैदा हो गये हैं जो इस हैरतअंगेज़-इन्क़लाब के बाइस हुए। ग़ौर करने के बाद मालूम हुआ कि इस तमाम तग़ैयुर व तबद्दुल, जोड़ तोड़, दाँव-पेंच का बाइस हमारे मुल्क का बदनसीब पालिटिक्स है। जब तक महात्मा गांधी और उनके रुफ़क़ा (सहकारियों) को यह तवक्क़ा (आशा) थी कि मुसल्मानों से कोई सियासी (राजनैतिक) समझौता हो जायगा, उस वक़्त तक वह हिन्दुस्तानी-हिन्दुस्तानी पुकारते रहे, जो थपककर सुलाने के लिये अच्छी ख़ासी लोरी थी; लेकिन जब उन्हें इसकी तवक्क़ा न रही, या उन्होंने ऐसे समझौते की ज़रूरत न समझी, तो रिया (फ़रेब) की चादर उतार फेंकी और असली रंग में नज़र आने लगे। वह शौक से हिन्दी का प्रचार करें। वह हिन्दी नहीं छोड़ सकते तो हम भी उर्दू नहीं छोड़ सकते। उनको अगर अपने वसीअ ज़राए और वसायल (विशाल साधनों) पर घमंड है, तो हम भी कुछ ऐसे हेठे नहीं हैं।'

हमें मौलाना अब्दुल हक-जैसे वयोवृद्ध, विचारशील और नीति-चतुर बुजुर्ग के कलम से ये शब्द देखकर दुःख हुआ। जिस सभा में वह बैठे हुए थे, उसमें हिन्दीवालों की कसरत थी। उर्दू के प्रतिनिधि तीन से ज्यादा न थे। फिर भी जब 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' और अकेले हिन्दुस्तानी पर वोट लिये गये तो 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में आधो से कुछ ही कम रायें आई। अगर मेरी याद गलती नहीं कर रही है तो शायद पन्द्रह और पचीस का बटवारा था। एक हिन्दी-प्रधान जलसे में जहाँ उर्दू के प्रतिनिधि कुल तीन हों; पन्द्रह रायों का हिन्दुस्तानी के पक्ष में मिल जाना हार होने पर भी जीत ही है। बहुत संभव है कि दूसरे जलसे में हिन्दुस्तानी का पक्ष और मज़बूत हो जाता। और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' का वकालतनामा लिये हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है, वह भी अभी तक 'हिन्दुस्तानी' का कोई रूप नहीं खड़ा कर सके। केवल उसकी कल्पना-मात्र कर सके हैं, यानी वह ऐसी भाषा हो, जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और आम बोल-चाल की हो। यह हम हिन्दुस्तानी-हिमायतियों का कर्तव्य है कि मिलकर उसका प्रचार करें, उसे ऐसा रूप दें कि उर्दू और हिन्दी दोनों ही पक्षवाले उसे अपना लें। दिल्ली और लाहौर में हिन्दुस्तानी सभाएँ खुली हुई हैं। दूसरे शहरों में भी खोली जा सकती हैं। यह उनका कर्तव्य होना चाहिए कि हिन्दुस्तानी के विकास और प्रचार का उद्योग करें। और अभी जो चीज़ सिर्फ कल्पना है, वह सत्य बनकर खड़ी हो जाय। हम मौलाना साहब से प्रार्थना करेंगे कि परिषद् से इतनी जल्द बड़ी-बड़ी आशाएँ न रक्खें और नीयतों पर शुबहा न करें। मुमकिन है आज जो बात मुश्किल नज़र आ रही है, वह साल-दो-साल में आसान हो जाय। केवल तीन उर्दू पक्षवालों की मौजूदगी का ही यह नतीजा था कि परिषद्

ने अपने रेज़ोल्यूशनों की भाषा में तरमीम स्वीकार की। अभी से निराश होकर वह परिषद् का जीवन ख़तरे में न डालें।

४ : प्रान्तीय साहित्य की एकता

आज 'हंस' भारत के समस्त साहित्यों का मुखपत्र बनने की इच्छा से एक नई विशाल भावना को लेकर अवतार्ण हो रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों की साहित्य समृद्धि को राष्ट्रवाणी हिन्दी के द्वारा सारे भारत के आगे उपस्थित करना।

राष्ट्र, वस्तु नहीं...वह एक भावना है। करोड़ों स्त्री पुरुषों की संकल्पयुक्त इच्छा पर इस भावना का रचना हुई है। आज अगणित भारतवासी अपने आचार और विचार में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं। सारा हिन्द एक और अविभाज्य है।

यह भावना, कई तरह से, कई रूपों में प्रकट है। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग अंग्रेजी भाषा के द्वारा इस भावना का जाहिर करते हैं; दूसरे अनेक अपनी अपनी मातृभाषा में। प्रयत्न एक ही दिशा में अनेकों हो रहे हैं। वे राष्ट्रभाषा और साहित्य के बिना एकरूप नहीं हो सकते।

अब हिन्दी, राष्ट्रभाषा के रूप में सर्वजनमान्य हो चुकी है। महात्मा गान्धी जैसे राष्ट्र विधाता इसे जीवित राष्ट्रभाषा बनाने का व्रत ले चुके हैं। परन्तु यह भाषा सिर्फ व्यवहार की, आपस के बालचाल की ही नहीं, साहित्य की भी होनी चाहिए। सांस्कारिक विनिमय तथा सौन्दर्य दर्शन में भी उसका उपयोग होना चाहिए। यदि भारत एक और अवि-भाज्य हो, तो इसका संस्कार-विनिमय और सौन्दर्य-दर्शन एक ही भाषा में और परस्परावलम्बी साहित्य-प्रवाह द्वारा करना चाहिए।

भारतीय राष्ट्रभाषा कोई भी हो, उसमें हमें प्रत्येक देश भाषा के

तत्वों का बल पहुँचाना होगा। भारतीय साहित्य वही है, जिसमें प्रान्त-प्रान्त की साहित्य-समृद्धि का सर्वांग सुन्दर सार-तत्व हो। अपने राष्ट्र की आत्मा का साहित्य द्वारा सबको दर्शन होना चाहिए। ये ही विचार हमारे इस प्रयत्न के प्रेरणा रूप हैं।

देश के सभी प्रान्तों के साहित्य में आन्तरिक एकता भरी हुई है। साहित्यिक रचनाएँ चाहे जिस भाषा में लिखी गई हों, वे एक सूत्र में पिरोई हुई हैं। यह सूत्र कोई नया नहीं, परम्परा से चला आ रहा है। हर एक साहित्य में भगवान व्यास कृष्ण द्वैपायन की प्रेरणा है। रामायण के अप्रतिम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब उसमें झलकता है। पुराणों की प्रतिध्वनियाँ युग-युग के साहित्य में गूँजती हैं। संस्कृत साहित्य के निर्माताओं की ज्योति ने प्रत्येक प्रान्त के साहित्यकारों को प्रोत्साहन दिया है। अपने कथा साहित्य ने भी एकसूत्र-रूप हो हरेक प्रान्त के साहित्य को एक शृंखला में बाँध लिया है। जातक की कथाएँ किसी न किसी रूप में प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य में मिलती हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा और पंचतन्त्र के अनुवाद सभी प्रान्तों में प्रेम से अपनाये गये हैं। यह अपनी लोककथायें इस देश की स्वयंभू और जीवन साहित्य हैं और इसका मूल तत्व इस देश की, यहाँ की प्रजा की समान संस्कारी कल्पना में है।

पिछले काल में भगवत् धर्म और भगवद्भक्ति ने हर एक प्रान्त के साहित्य को पुनर्जन्म दिया है। विद्यापति और चंडीदास, सूर और तुलसी, नरसी, मीरा और कबीर, ज्ञानदेव और साधु तुकाराम, आलवार और और आचार्यों के पद-शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ और चैतन्य के प्रभावशाली सिद्धान्त एक ओर से भारत की सांस्कारिक एकता का ख्याल कराते हैं और दूसरी तरफ समस्त भारत के संस्कारों को एक रूप बनाते हैं।

और मुस्लिम राज्य काल में हिन्दू मुस्लिम संस्कारों के विनिमय का असर किस प्रान्त पर नहीं पड़ा? अगर संगीत में मुसलमानों ने हिन्दुओं की शब्दावली और रस को अपनाया, तो नीति और राजकीय विषयों में

मुसलमानों की शब्दावली का यहाँ प्रचार हुआ। दोनों ने मिलकर हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि की, जो आज हमारी राष्ट्रभाषा है और हिन्दुस्तानी का आदि कवि खुसरो था, जो बलबन का समकालीन था। उसकी पहेलियाँ और मुकरियाँ और पद आज तक हिन्दी भाषा की सम्पत्ति हैं और इस क्षेत्र में अब तक कोई उसका जोड़ पैदा नहीं हुआ। सदियों तक सांस्कृतिक आदान प्रदान होता रहा। हिन्दू कवि फारसी और उसके बाद उर्दू में कविता करते थे और मुसलमान कवि हिन्दी में। जिन मुसलमान कवियों ने हिन्दी में पद्य रचे, और हिन्दी पद्य ग्रन्थों की टीकाएँ कीं, उन पर आज भी हिन्दी को गर्व है। जायसी की पद्मावत तो हिन्दी भाषा का आज भी गौरव है और सूफी कवियों ने तो मतों और पन्थों के बन्धन को तोड़कर प्रेम और एकता की जो धारा चलाई उससे कौन सी भाषा प्रभावित नहीं हुई ? कई सदियों के संसर्ग से हमारी संस्कृति ने जो रूप धारण कर लिया है, उसमें किन जन समूहों का क्या अंश है, उसका निर्णय करना आज असम्भव है।

अंग्रेजों के आने के बाद साहित्य के आदर्श अंग्रेजी साहित्य के आधार पर नये साचे में ढले। निबन्ध, उपन्यास, गल्प, नाटक और कविता की समृद्धि संस्कृत साहित्य के बाण, माघ और कालिदास से आई है, पर उनका स्वरूप, सूक्ष्मता और सरसता, इंगलैंड में प्रचलित रोमान्टिसिज्म द्वारा निर्मित लेखक के हृदय से निकली हैं। और यह सब शैली, वर्डस्वर्थ, स्काट और लिटन की प्रेरणा से मिली हैं।

१९०४ ई० में बंग भंग के बाद जो ज्वलंत राष्ट्रीयता का संचार हमारे जीवन में हुआ, उसका प्रतिबिम्ब प्रत्येक साहित्य में मिलता है। आज महात्मा गान्धी के लेखों और भाषणों की ओर उसी तरह कवीन्द्र रवीन्द्र की कृतियों की प्रेरणा हर एक एक साहित्य को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर रही है।

भारतीय साहित्य में मौलिक एकता पहले भी थी और अब भी है, सिर्फ भाषा का परिधान हर प्रान्त में पृथक्-पृथक् रहा। सारा साहित्य

एक ही स्थल पर एक ही भाषा द्वारा भारतीयों को मिलने लगे, तो जरूर यह एकता स्वरूप पाकर दृढ़ बनेगी। एक ही जगह में और एक ही भाषा में समस्त प्रान्तों का साहित्य संगृहीत होने से प्रत्येक साहित्य को स्फूर्ति और वेग मिले बिना न रहेंगे। कुछ लोगों को यह खौफ है कि इससे प्रान्तीय साहित्यों की खूबी या सरसता चली जायगी। कई भाइयों को इस प्रयत्न में प्रान्तीय गौरव के भंग होने के लक्षण दीखते हैं, पर गहराई के साथ सोचें, तो यह भय बिना आधार का लगता है। प्रान्तीय साहित्य एक दूसरे के साथ बराबर की कतार में खड़े हुए एक दूसरे का माप करते रहें, और एक दूसरे के सम्पर्क से नये आदेश, नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति पाते रहें, क्या इससे किसी भी साहित्य को कोई आघात पहुँच सकता है? आज जो कई जगह हमारा साहित्य संकुचित होता हुआ दीख रहा है, वह प्रवाहित हो उठेगा। कालिदास, होमर, गेटे या शेली, ये मनुष्य मात्र को सरसता का पाठ सिखाते हैं। और जब तक हमारा प्रान्तीय साहित्य विशाल क्षेत्र में न विचरण करे, तब तक विश्व साहित्य में स्थान प्राप्त करने के लायक नहीं होगा। अतः इसमें सन्देह नहीं, इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप साहित्य संकुचित होने के बदले और भी अधिक रमणीयता तथा विशालता प्राप्त करेगा।

कुछ साहित्यकार कहते हैं, कि ये प्रयत्न हिन्दी में किसलिए? अंग्रेजी में क्यों नहीं?

यह पूर्वोक्त प्रश्न, यह बेढंगा सवाल, आज ई० स० १९३५ में भी पूछा जा सकता है, इससे हमें आश्चर्य और दुःख होता है। इस देश में क्या इतनी शक्ति नहीं रही, और राष्ट्रभक्ति इतनी निष्प्राण हो गई है कि भारत को विदेशियों की भाषा द्वारा अपने प्राण व्यक्त करने के लिए मजबूर होना पड़े। और अगर यह बात ठीक है, तो हमें लज्जा के मारे डूब मरना चाहिए। अंग्रेजी सुन्दर भाषा है, उसके साहित्य में अमर रमणीयता समाई हुई है, उसकी प्रेरणा के सहारे हमारा बहुत सा आधुनिक साहित्य निर्मित हुआ है; परन्तु यह भाषा कितने लोगों की समझ में

आती है ! इस भाषा में हम अपने भारतीय संस्कारों को किस रीति से दिखला सकते हैं ! अपनी देश भाषा से बचे हुए अपने संस्कारों को परभाषा के बेढंगे स्वरूप में किस प्रकार व्यक्त करें !

हिन्दी कई प्रान्तीय भाषाओं की बड़ी बहन है। उर्दू के साथ इसका बहुत निकट सम्बन्ध है। कई करोड़ प्रजा हिन्दी में बोलती है, और उससे भी अधिक संख्या इसे समझ सकती है। आज इसे राष्ट्र सिंहासन पर राष्ट्र विधाताओं ने बिठाया है। इसे छोड़ हम क्या परभाषा में साहित्य का विनिमय करें।

हिन्दी को छोड़कर दूसरी भाषा इस देश की हो नहीं सकती है। हमें इस वस्तु का भान, इस बात का विश्वास, जितनी जल्दी हो जाय, उतना ही इस देश का भाग्योदय जल्दी नजदीक आ पहुँचेगा।

हिन्दी में हर एक प्रान्त का साहित्य अवतीर्ण हो तो वह प्रयाग या काशी की हिन्दी न होगी, इस हिन्दी में हर एक प्रान्त की विशेषताएँ अवश्य होंगी। इसकी वाक्य रचना में विविधता आयेगी। इसके कोष में अन्य अपरिचित भाषाओं के शब्द भी आकर जमा होंगे। ऐसी अनेक सामग्रियों में से नई राष्ट्रभाषा प्रकट होगी।

ऐसी एक सर्वसामान्य भाषा के लिए मौलिक हिन्दी का ही उपयोग करना जरूरी है। थोड़े सरल शब्दों की यह एक भाषा बने, यह सर्वथा वांछनीय है; परन्तु यह काम साहित्यिक दृष्टि से उतना सहल नहीं, यह हम अच्छी तरह समझते हैं। आज हिन्दी में, बंगला में, मराठी और गुजराती में, तेलुगू और मलयालम में, संस्कृत के अंश प्रति दिन बढ़ते जा रहे हैं। संस्कृत की समृद्धि और उसके माधुर्य की सहायता न होने, तो इन भाषाओं का विकास सम्भव नहीं था; अर्थात् . उसकी समृद्धि और माधुर्य रखने और सरलता को सुरक्षित रखने के लिए ये प्रश्न बहुत से साहित्यकारों के सामने उपस्थित हैं। वे इन कठिनाइयों को खूब जानते हैं, कि ये आसानी से हल होने वाली नहीं हैं। इससे भी बड़ा और महत्व का एक प्रश्न है। हिन्दू और मुसलमान...दोनों को समझ में आवे, ऐसी

प्रदान कर दिया था। चौबीस अप्रैल की शाम को पंडाल में स्वागताध्यक्षजी व मुख्तसर० पर समयानुकूल भाषण हुआ। पश्चात् सभापति ने अपना सदारती भाषण सुनाया। अब तक हमने सम्मेलन के जितने सदारती भाषण पढ़े, हमे अपने कानों से सुनने का केवल एक बार दिल्ली में अवसर मिला। उनमें दो-एक को छोड़कर सभी भाषणों का एक दर्रा-सा निकला हुआ जान पड़ा। जो आया उसने हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति से आरम्भ किया और उसके ही विकास की लम्बी कथा पढ़ सुनाई। साहित्य की समस्याओं और धाराओं से उसे कोई मतलब नहीं। बाबू राजेन्द्र प्रसाद का भाषण विद्वत्तापूर्ण भी था, आलोचनात्मक भी और व्यावहारिक भी। भाषा और साहित्य का ऐसा कोई पहलू नहीं, जिस पर आपने प्रकाश न डाला हो और मौलिक आदेश न दिया हो। भाषा के भंडार को बढ़ाने के विषय में आपने जो सलाह दी, उससे किसी भी प्रगतिशील आदमी को आपत्ति नहीं हो सकती। आपने बतलाया कि हिन्दी में अरबी और फ़ारसी के जो शब्द आकर मिल गये हैं, उन्हें व्यवहार में लाना चाहिए। पारिभाषिक शब्दों के विषय में आपका प्रस्ताव है कि यथासाध्य सभी प्रान्तीय भाषाओं में एक ही शब्द *रखा जाय। प्रत्येक भाषा में अलग-अलग शब्द गढ़ने में समय और श्रम* लगाना बेकार है। आपने यह भी बताया कि गाँव में ऐसे हज़ारों शब्द हैं, *जिनको हमने साहित्यिक हिन्दी से बाद कर दिया है, हालाँकि वे* अपने आशय को जितनी सफ़ाई और निश्चयता से बताते हैं, वह संस्कृत से लिए हुये शब्दों *में नहीं पाई जाती।*

साहित्य के मर्म के विषय में भी आपके विचार इतने ऊँचे और मान्य हैं। *आपने सच्चे साहित्य की बात यों बताई—*

'सच्चे साहित्य का एक ही माप है। चाहे उसमें रस कोई भी हो पर यदि वह मानव जाति को ऊपर ले जाता हो, तो सच्चा साहित्य है, और यदि उसका प्रभाव इससे उल्टा पड़ता हो, तो चाहे जैसी भी सुन्दर और ललित भाषा में क्यों न हो, वह ग्राह्य नहीं हो सकता।

इससे स्पष्ट है कि सच्चे साहित्य के निर्माण में वही सफल हो सकता है जिसमें तपस्या और संयम से आने का इस संयम बनाता हो। इसके लिए एक प्रकार की दैवी शक्ति चाहिए, जो पूर्व संस्कार और इस जन्म की तपस्या और संयम का ही फल हो सकती है।'

साहित्य में संयम, साधना और अनुभूति का कितना महत्त्व है, इस पर ज़ोर देते हुए आपने आगे चलकर कहा—

'अनुभूति और कल्पना-चमत्कार में उतना ही भेद है, जितना मनुष्य के सुन्दर वर्णन में और उसके चलने में। इसलिए चाहे जिस प्रकार के ग्रंथ क्यों न लिखे जायँ, यदि वह अनुभूति और जीवन से निकले हैं, तो उनकी कीमत है और उनमें शान और प्रभाव है। यदि वह केवल चमत्कार मात्र हैं, तो उन्हें केवल वाग्जाडम्बर ही मानना चाहिए। इस कसौटी पर अपने आधुनिक साहित्य को कसा जाय, तो थोड़े ही ग्रन्थ खरे निकलेंगे। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास आज भी ज़िन्दा हैं और करोड़ों के जीवन सुधार में प्रेरक होते हैं। उनके पदों में एक प्रकार का आनन्द है, जो दूसरों की रचनाओं में शायद ही नहीं मिलता। इसलिए कविता और दूसरे साहित्य निर्माण करनेवालों से यही सविनय निवेदन है कि यह उनका धर्म है कि युग और समय के अनुसार सच्चे साहित्य का निर्माण करें। जातीय जीवन की झलक साहित्य में आनी चाहिए। हमारा भावनाओं और उमंगों को साहित्य में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। हमारी उम्मीदें, अभिलाषाएँ और उच्चाकांक्षाएँ साहित्य में प्रदर्शित होना चाहिए और उनको साहित्य से पुष्टि भी मिलनी चाहिए।'

इस भाषण का एक एक शब्द विचार और अनुकरण करने योग्य है। यही बातें हम भी बराबर कहते आये हैं; पर कहीं-कहीं उसका जवाब यही मिला है कि कला कला के लिए है, उसमें किसी प्रकार का उद्देश्य न होना चाहिए। आशा है वह सज्जन अब इस उत्तरदायित्वपूर्ण कथन को पढ़कर अपने विचारों में तरमीम करेंगे।

सम्मेलन में इतिहास-परिषद्, दर्शन-परिषद् और विज्ञान परिषद् की भी आयोजना की गई थी; पर हमें एक शाम ज़रूरत से २५ की शाम ही को चला आना पड़ा, और उन परिषदों का कोई रिपोर्ट भी नहीं मिल सकी। यह सम्मेलन का काम था कि कम से कम पत्र-पत्रिकाओं के पास तो उनकी रिपोर्ट भेज देता। हमें साहित्य-परिषद् के सभापति श्री बालकृष्णजी 'नवीन' का भाषण पढ़ने का मिला। उसमें ज़ोर है, प्रवाह है, जोश है। कवि सम्मेलनों की मौजूदा हालत और उसके सुधार के विषय में आपने जो कुछ कहा, वह सर्वथा मानने योग्य है; पर जहाँ आपने कला को उपयोगिता के बन्धन से आज़ाद कर दिया, वहीं आपसे हमारा मतभेद है। आखिर कवि किस लिए कविता करता है? क्या कवि भी श्यामा चिड़िया है, जो प्रकृतिदत्त उल्लास में अपना मीठा राग सुनाने लगता है? ऐसा तो नहीं है। श्यामा जंगल में भी गायेगी, कोई सुननेवाला है या नहीं, इसकी उसे परवा नहीं; बल्कि जमघट में तो उसकी ज़ुबान बन्द हो जाती है। उसके पिंजड़े पर कपड़े की मोटी तह लपेटकर जब उसे एकान्त के भ्रम में डाला जाता है, तभी वह जमघट में चहकती है। कवि तो इसीलिए कविता करता है कि उसने जो अनुभूति पाई है, वह दूसरों को दे, उन्हें अपने दुःख-सुख में शरीक करे। ऐसा शायद ही कोई पागल कवि होगा, जो निर्जनता में बैठकर अपनी कविता का आनन्द ले। कभी-कभी वह निर्जनता में भी अपनी कविता का आनन्द लेता है, इसमें सन्देह नहीं; पर इससे उसकी तृप्ति नहीं होती। वह तो अपनी अनुभूतियों को, अपनी व्यथाओं को लिखेगा, छपायेगा और सुनायेगा। दूसरों को उससे प्रभावित होते देखकर ही उसे उसकी सत्यता का विश्वास होता है। जब तक वह अपने रोने पर दूसरों को रुला न ले, उसे इसका सन्तोष ही कैसे होगा कि वह वहीं रोया, जहाँ उसे रोना चाहिए था। दूसरों का सुन कर अपनी भावनाओं और व्यथाओं की सत्यता जाँचने का यह नशा इतना ज़बरदस्त होता है कि वह अपनी अनुभूतियों को मुबालगे के साथ बयान करता है, ताकि सुननेवालों पर

गहरा असर पड़े। इसलिए यह कहना कि कविता का कुछ उद्देश
नहीं होता और उसको उपयोगिता के बन्धन में बाँधना ग़लती है,
सारहीन बात है। कवि को देखना होगा कि वह जो दूसरों को रुल
है, या हँसा रहा है तो क्यों! मेरी पत्नी का स्वर्गवास हो गया है,
क्यों दूसरों के सामने रोता और उनको रुलाता फिरूँ! इसीलिए
बिना दूसरों के सामने रोये दिल का बोझ हलका नहीं होता!
उसका उद्देश्य है, हमारी करुण भावनाओं को उत्तेजित करना,
मानवता को जगाना और यही उसकी उपयोगिता है। मगर हम तो
की सभी अनुभूतियों के क़ायल नहीं। अगर उसने अपनी प्रेयसी
नखशिख के बखान में वाणी का चमत्कार दिखाया है, तो हम दे
कि उसने किन भावों से प्रेरित होकर यह रचना की है। अगर उ
हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है, हममें सौन्दर्य की भावना
होती है, तो उसकी रचना ठीक, वरना ग़लत।

छोटी टिप्पणियाँ

हंस के जन्म पर

'हंस' के लिए यह परम सौभाग्य की बात है, कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नए युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी। बहुत छोटी-छोटी, तुच्छ विजयों पर बड़ी-बड़ी शानदार यादगारें बन चली हैं। इस महान् विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनावेंगे, यह तो भविष्य की बात है पर यह विजय एक ऐसी विजय है, जिसकी नज़ीर संसार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी। हम भी उस नये देवता की पूजा करने के लिये, उस विजय की यादगार क़ायम करने के लिये, अपना मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं। और हमारी बिसात ही क्या है। शायद आप पूछें, संग्राम शुरू होते ही विजय का स्वप्न देखने लगे! उसकी यादगार बनाने की भी सूझ गई! मगर स्वाधीनता केवल मन की एक वृत्ति है। इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है। अब तक इस विचार ने जन्म ही न लिया था। हमारी चेतना इतनी मंद, शिथिल और निर्जीव हो गई थी कि उसमें ऐसी महान् कल्पना का आविर्भाव ही न हो सकता था; पर भारत के कर्णधार महात्मा गांधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी। अब वह बढ़ेगा, फूले-फलेगा। अब से पहले हमने अपने उद्धार के जो उपाय सोचे, वह व्यर्थ सिद्ध हुए, हालाँकि उनके आरम्भ में भी सत्ताधारियों की ओर से ऐसा ही विरोध हुआ था। इसी भाँति इस संग्राम

में भी एक दिन हम विजयी होंगे। वह दिन देर में आवेगा या सबेरे,
यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है। हाँ, हमारा यह
धर्म है कि उस दिन को जल्द से-जल्द लाने के लिये तपस्या करते रहें।
यही 'हंस' का ध्येय होगा, और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी।

हंस की नीति

कहते हैं, जब श्रीरामचंद्र समुद्र पर पुल बाँध रहे थे, उस वक्त
छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद
थी। इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत
ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। हंस भी मानसरोवर की शान्ति
छोड़कर, अपनी नन्हीं-सी चोंच में चुटकी-भर मिट्टी लिये हुए, समुद्र
पाटने—आज़ादी के जंग में योग देने—चला है। समुद्र का विस्तार
देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है; लेकिन संघ शक्ति ने उसका दिल
मज़बूत कर दिया है। समुद्र पटने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त
हो जायगी, या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो कोई ज्योतिषी
ही जाने; पर हमें ऐसा विश्वास है कि हंस की लगन इतनी कच्ची न
होगी। यह तो हुई उसकी राजनीति। साहित्य और समाज में वह उन
गुणों का परिचय देगा, जो परम्परा ने उसे प्रदान कर दिये हैं।

डोमिनियन और स्वराज्य

न डोमिनियन माँगे से मिलेगा, न स्वराज्य। जो शक्ति डोमिनियन
छीनकर ले सकती है, वह स्वराज्य भी ले सकती है। इंग्लैण्ड के लिये
दोनों समान हैं। डोमिनियन स्टेटस में गोलमेज़-कान्फ्रेंस का उलझाव
है; इसलिये वह भारत को इस उलझाव में डाल कर भारत पर बहुत
दिनों तक राज्य कर सकता है। फिर उसमें क़िस्तों की गुंजायश है और
क़िस्तों की अवधि एक हज़ार वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है। इसलिये
इंग्लैण्ड का डोमिनियन स्टेटस के नाम से न घबराना समझ में आता
है। स्वराज्य में क़िस्तों की गुंजायश नहीं, न गोलमेज़ का उलझाव

है; इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो हैं नहीं कि इंग्लैण्ड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यही होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष में हैं, तो इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को ग़ौर से देखिए, तो उसमें हमारे राजे महाराजे, हमारे ज़मींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत कुछ दबकर रहना पड़ेगा? स्वराज्य में मज़दूरों और किसानों की आवाज़ इतनी निर्बल न रहेगी? क्या यह लोग उस आवाज़ के भय से थरथरा रहे हैं? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है। वह अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेज़ी-शासन ही से हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हें ग़रीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। डोमिनियन का अर्थ उनके लिये यही है कि दो-चार गवर्नरियाँ दो-चार बड़े-बड़े पद, उन्हें और मिल जायँगे। इनका डोमिनियन स्टेटस इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह ग़रीबों को चूसते चले जायँगे। स्वराज्य ग़रीबों की आवाज़ है, डोमिनियन ग़रीबों की कमाई पर मोटे होनेवालों की। सम्भव है, अभी अमीरों की आवाज़ कुछ दिन और ग़रीबों को दबाये रक्खे। ग़रीबों के सब्र का प्याला अब भर गया है। इंग्लैण्ड को अगर अपना रोजगार प्यारा है, अगर अपने मज़दूरों की प्राण-रक्षा करनी है; तो उसे ग़रीबों की आवाज़ को ठुकराना नहीं चाहिए, वरना भारत के राजों और शिक्षित-समाज के ऊँचे ओहदेदारों के सँभाले उसका रोज़गार न सँभलेगा। जब एक बार ग़रीब समझ जायँगे कि इंग्लैण्ड उनका दुश्मन है, तो फिर इंग्लैण्ड की खैरियत नहीं। इंग्लैण्ड अपनी संगठित शक्ति से उनका संगठित होना रोक सकता है; लेकिन बहुत दिनों तक नहीं।

युवकों का कर्तव्य

अब युवकों का क्या कर्तव्य है ? युवक नई दशाओं का प्रवर्त्तक हुआ करता है। संसार का इतिहास युवकों के साहस और शौर्य का इतिहास है। जिसके हृदय में जवानी का जोश है, यौवन की उमंग है, जो अभी दुनिया के धक्के खा-खाकर हतोत्साह नहीं हुआ, जो अभी बाल-बच्चों की फ़िक्र से आज़ाद है अगर वही हिम्मत छोड़कर बैठ रहेगा, तो मैदान में आयेगा कौन ? फिर, क्या उसका उदासीन होना इंसाफ़ की बात है ? आखिर यह संग्राम किस लिए छिड़ा है ? कौन इससे ज्यादा फायदा उठावेगा ? कौन इस पौधे के फल खावेगा ? बूढ़े चंद दिनों के मेहमान हैं। जब युवक ही स्वराज्य का सुख भोगेंगे, तो क्या यह इंसाफ़ की बात होगी, कि वह दुबके बैठे रहें। हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, कि वह गुलामी में खुश हैं और अपनी दशा को सुधारने की लगन उन्हें नहीं है। यौवन कहीं भी इतना बेजान नहीं हुआ करता। तुम्हारी दशा देखकर ही नेताओं को स्वराज्य की फ़िक्र हुई है। वह देख रहे हैं कि तुम जो तोड़कर डिग्रियाँ लेते हो पर तुम्हें कोई पूछता नहीं. जहाँ तुम्हें होना चाहिए, वहाँ विदेशी लोग डटे हुए हैं। स्वराज्य वास्तव में तुम्हारे लिए है, और तुम्हें उसके आन्दोलन में प्रमुख भाग लेना चाहिए। गवर्नर और चांसेलर तुम्हें तरह-तरह के स्वार्थमय उपदेश देकर, तुम्हें अपने कर्तव्य से हटाने की कोशिश करेंगे, पर हमें विश्वास है, तुम अपना नफ़ा-नुकसान समझते हो और अपने जन्म-अधिकार को एक प्याले भर दूध के लिये न बेचोगे। लेकिन यह न समझो, कि केवल स्वराज्य का झंडा गाड़कर, और 'इन्क़लाब' की हाँक लगाकर तुम अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हो। तुम्हें मिशनरी जोश और धैर्य के साथ इस काम में जुट जाना चाहिए। संसार के युवकों ने जो कुछ किया है, वह तुम भी कर सकते हो। क्या तुम स्वराज्य का सदेश गाँव में नहीं पहुँचा सकते ? क्या तुम गाँवों के संगठन में योग नहीं दे सकते ? हम सब कहते हैं, एल-एल० बी०, या एम० ए० हो जाने के बाद यह अंग्रेज़ी तालीम,

वह अनुभव तुम्हें इतना हितकर होगा, जितना पुस्तक-ज्ञान उम्र-भर भी नहीं हो सकता। तुम मर्द हो जाओगे।

सरल जीवन स्वाधीनता के संग्राम की तैयारी हो

लेकिन जब हम अपने छात्रों का विलास-प्रेम देखते हैं, तो हमें उनके विषय में बड़ी चिन्ता होती है। वह रोज अपनी जरूरतें बढ़ाते जाते हैं, विदेशी चीजों की चमक-दमक ने उन्हें अपना गुलाम बना लिया है। वे चाय और काफ़ी के, साबुन और सेंट के और न जाने कितनी अल्लम गल्लम चीज़ों के दास हो गये हैं। बाज़ार में चले जाइए, आप युवकों और युवतियों को शौक़ और विलास की चीजें खरीदने में रत पाएँगे। वह यह समझ रहे हैं, कि विलास की चीजें बढ़ा लेने से ही जीवन का आदर्श ऊँचा हो जाता है। युनिवर्सिटियों में अपने अध्यापकों का विलास-प्रेम देखकर यदि उन्हें ऐसा विचार होता है, तो उनका दोष नहीं। यहाँ तो आवें का आवाँ बिगड़ा हुआ है। सादे और सरल जीवन से उन्हें घृणा सी होती है। अगर उनका कोई सहपाठी सीधा-सादा हो, तो वे उसकी हँसी उड़ाते हैं, उस पर तालियाँ बजाते हैं। अंग्रेज अगर इन चीज़ों के शौकीन हैं, तो इसलिए कि इस तरह वे अपने देश के व्यवसाय की मदद करते हैं। फिर, वह सम्पन्न हैं, हमारी और उनकी बराबरी ही क्या! उन्होंने फ़सल काट ली है, अब मज़े से बैठे खा रहे हैं। हमने तो अभी फ़सल बोई भी नहीं, हम अगर उनकी नकल करें, तो इसके सिवा कि बीज खा डालें, और क्या कर सकते हैं। और यही हो रहा है। जिस गाढ़ी कमाई को देशी व्यवसाय और धंधे में खर्च होना चाहिए था, वह यूरोप चली जा रही है और हम उन आदतों के गुलाम होकर अपना भविष्य खाक में मिला रहे हैं। शौक़ और सिंगार के बन्दे जिन्दगी में कभी स्वाधीनता का अनुभव कर सकते हैं, हमें इसमें सन्देह है। विद्यालय से निकलते ही उन्हें नौकरी चाहिए—इसके लिये वह हर तरह की खुशामद और नकघिसनी करने के लिये तैयार हैं। नौकरी मिल गई, तो उन्हें अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिये ऊपरी आमदनी की फ़िक्र

होती है। उनकी आत्मा की स्वतन्त्रता, शौक़ की वेदी पर चढ़ा दी जाती है। दुनिया के जितने बड़े-से बड़े महापुरुष हो गये हैं, और हैं, वे जीवन की सरलता का उपदेश देते आये हैं और दे रहे हैं; मगर हमारे छात्र हैं, कि हैट और कालर की फ़िक्र में अपना भविष्य बिगाड़ रहे हैं।

शांति-रक्षा

हिज़ एक्सेलेन्सी वाइसराय से लेकर सूबों के हिज़ एक्सेलेन्सियों तक सभी क़ानून और शांति की रक्षा की धमकियाँ दे रहे हैं, जिसका अर्थ यह है, कि इस वक्त कानून और शांति की रक्षा के लिये, जो कुछ किया जा रहा है, उससे ज्यादा और भीषण रीति से किया जायगा। और, उधर महात्मा गांधी हैं कि किसी दशा में भी शांति को हाथ से नहीं छोड़ना चाहते, यहाँ तक कि अवज्ञा का सारा भार उन्होंने अपने सिर ले लिया है।

जहाँ तक शांति-रक्षा का संबंध है, ऐसा कौन आदमी होगा, जो सरकार से इस विषय में सहयोग न करे और मुल्क में बदअमली हो जाने दे। मगर मुशकिल यह है, कि सरकार ने जिस चीज़ का नाम शांति रख छोड़ा है, वह हमारे लिये न शांति है, न कानून। जो क़ानून राष्ट्र बनाता है, उसका पालन वह स्वयं शांति-पूर्वक करता है; लेकिन जो क़ानून दूसरे लोग उसके लिए बना देते हैं, उसकी पाबंदी वह करती तो है पर संगीनों और मशीनगनों के जोर से, और ऐसी शांति को कौन शांति कहेगा, जिसका आधार तलवारों की झंकार और तोपों की गरज है! जहाँ तक हमें याद है, सरकार ने और चाहे जितनी ग़लतियाँ की हों, शांति की रक्षा में उसने कमी ग़लती नहीं की। यह दूसरी बात है, कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़-लड़कर एक दूसरे के माथ लें, एक-दूसरे की जायदाद लूटें, घर में आग लगावें, औरतों की आबरू बिगाड़ें! न जाने सरकार की शांति-रक्षिणी शक्ति ऐसे नाज़ुक मौक़ों पर क्यों नहीं काम करती!

जेल-सुधार

जिस तरह किसी व्यक्ति के चरित्र का अन्दाज़ा उसके मित्रों को देखकर किया जा सकता है, उसी तरह किसी राज्य की सुव्यवस्था का अन्दाज़ा, उसके जेलों की दशा से हो सकता है। रूस के जेल भारत के जेलों को देखते स्वर्ग हैं। यहाँ तक कि ईरान जैसे देश के जेल भी बहुत कुछ सुधर चुके हैं। हमारे जेलों की दशा जितनी खराब है, शायद संसार में, इस बात में कोई उसका सानी न मिलेगा। जतीन्द्रनाथ दास के उत्सर्ग का कुछ फल उस सुधार के रूप में निकला है, जो अभी किये गये हैं; मगर क़ैदियों का कई दरजों में विभाजित किया जाना और हरेक कक्षा के साथ अलग-अलग व्यवहार करना, उन बुराइयों की दवा नहीं है। जेल ऐसे होने चाहिए, कि क़ैदी उसमें से मन और विचार में कुछ सुधरकर निकले, यह नहीं कि उसके पतन की क्रिया वहाँ जाकर और भी पूरी हो जाय। इस सुधार से यह फल न होगा, हाँ जो धनी हैं, उन्हें वहाँ कुछ आराम हो जायगा। ग़रीब की सब जगह मौत है, जेल में भी। मालूम नहीं ईश्वर के घर भी यही भेद-भाव है, या इससे कुछ अच्छी दशा है।

जापान के लोग लम्बे हो रहे हैं

हिन्दुस्तान के लोग दिन-दिन दुर्बल होते जाते हैं। लेकिन जापान के एक पत्र ने लिखा है—जापानियों का डील धीरे-धीरे ऊँचा हो रहा है। बलिष्ठ तो वे पहले भी होते थे; लेकिन अब वे ऊँचे भी हो रहे हैं। इसका कारण है, रहन-सहन में सुधार। अब वे पहले से अच्छा और पुष्टिकारक भोजन पाते हैं, ज्यादा साफ़ और हवादार घरों में रहते हैं, आर्थिक चिन्ताओं का भार भी कम हो गया है। यहाँ अस्सी फ़ी सैकड़े आदमी आधे पेट भोजन भी नहीं पाते, वे क्या बढ़ेंगे और क्या मोटाएँगे! शायद सौ वर्ष के बाद हिन्दुस्तानियों की कहानी रह जायगी।

राजनीति और रिशवत

वर्तमान राजनीति में रिशवत भी एक ज़रूरी मद है। क्या इंगलैण्ड, क्या फ्रांस, क्या जापान, सभी सभ्य और उन्नत देशों में यह मरज़ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। चुनाव लड़ने के लिए बड़े-बड़े लोग जमा किये जाते हैं और वोटरों से वोट लेने के लिए सभी तरह के प्रलोभनों से काम लिया जाता है। जब देश के शासक खुद ऐसे काम करते हैं, तो उसे रोके कौन! शैतान ही जानता है चुनाव के लिए कैसी-कैसी चालें चली जाती हैं, कैसे कैसे दाँव खेले जाते हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाने के लिए बुरे-से बुरे साधन काम में लाये जाते हैं। जिस दल के पास धन ज्यादा हो, और कार्यकर्ता—कनवैसर—अच्छे हों, उसकी जीत होती है। यह वर्तमान शासन-पद्धति का कलंक है। इसका फल यह होता है, कि सबसे योग्य व्यक्ति नहीं, सबसे चालबाज़ लोग ही चुनाव के संग्राम में विजयी होते हैं। ऐसे ही स्वार्थी, आदर्शहीन, विवेकहीन मनुष्यों के हाथ में संसार का शासन है। फिर अगर संसार में स्वार्थ का राज्य है, तो क्या आश्चर्य!

पहले हिन्दुस्तानी, फिर और कुछ

हिन्दू तो हमेशा से यही रट लगाते चले आ रहे हैं लेकिन मुसलमान इस आवाज़ में शरीक न थे। बीच में एक बार मौ० मुहम्मदअली या शायद उनके बड़े भाई साहब ने यह आवाज़ मुंह से निकालने का साहस किया था; मगर थोड़े दिनों के बाद उन्होंने फिर पहलू बदला और 'पहले मुसलमान फिर और कुछ' का नारा बलन्द किया। फिर क्या था, मुसलिम दल में उनका जितना सम्मान कम हो गया था, उससे कई गुना ज्यादा मिल गया। आज अगर कोई मुसलमान 'पहले हिन्दुस्तानी' होने का दावा करे, तो उस पर चारों तरफ से बौछारें होने लगेंगी। 'पहले मुसलमान' बनकर धर्मान्ध जनता की निगाह में गौरव प्राप्त कर लेना तो आसान है; पर उसका मुसलमानों की मनोवृत्ति पर जो बुर

असर पड़ता है, वह देश-हित के लिए घातक है। मुसलमान किसी प्रश्न पर राष्ट्र की आँखों से नहीं देखता, वह उसे मुसलिम आँखों से देखता है। वह अगर कोई प्रश्न पूछता है, तो मुसलिम दृष्टि से, किसी बात का विरोध करता है, तो वह मुसलिम दृष्टि से। लाखों मुसलमान बाढ़ और सूखे के कारण तबाह हो रहे हैं। उनकी तरफ किसी मुसलिम मेम्बर की निगाह नहीं जाती। आज तक कोई ऐसा मुसलिम संघटन नहीं हुआ, जो मुसलिम जनता की सांसारिक दशा को सुधारने का प्रयत्न करता। हाँ, उनकी धार्मिक मनोवृत्ति से फायदा उठानेवालों की कमी नहीं है। महात्मा गाँधी खद्दर का प्रचार दिलोजान से कर रहे हैं। इससे मुसलमान जुलाहों का फायदा अगर हिन्दू कोरियों से ज्यादा नहीं, तो कम भी नहीं है। लेकिन जहाँ इस सूबे के छोटे-से-छोटे शहर ने महात्माजी को थैलियाँ भेंट कीं, अलीगढ़ ने केवल सूखा ऐड्रेस देना ही काफी समझा। यह मुसलिम मनोवृत्ति है। देखा चाहिए, सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल सम्मेलन को सफल बनाने में कहाँ तक सफल होते हैं। हमारी आशा तो नौजवान मुसलमानों का मुँह ताक रही है। इसलामिया कालेज लाहौर में, जहाँ अधिकांश मुसलमान छात्र थे, स्वाधीनता का प्रस्ताव मुसलमान नेताओं के विरोध पर भी पास हो गया। इससे पता चलता है, कि हवा का रुख किधर है।

महात्माजी का वाइसराय से निवेदन

महात्माजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा है उसे Ultimatum कहना, उस पत्र के महत्त्व को मिटाना है। वह एक सच्चे, आत्मदर्शी हृदय के उद्गार हैं। उसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जिसमें मालिन्य, क्रोध, द्वेष या कटुता की गंध हो। उस पवित्र आत्मा में मालिन्य या द्वेष का स्थान ही नहीं है। वह किसी का शत्रु नहीं, सबका मित्र है। अँग्रेजी शासन का ऐसा सपूर्ण इतिहास इतने थोड़े-से शब्दों में, इतनी सद्प्रेरणा के साथ महात्माजी के सिवा दूसरा कौन लिख सकता था। उस पत्र में जितनी जागृति, जितनी स्फूर्ति, जितना उत्साह है, वह शायद

भगवतगीता में हो तो हो, और तो हमें कहीं नहीं मिलता। भारत के ही इतिहास में नहीं, संसार के इतिहास में भी वह यादगार बनकर रहेगा। पाठक के हृदय पर एक-एक शब्द देववाणी-सा प्रभाव डालता है, प्रतिक्षण आत्मा ऊँची होती जाती है, यहाँ तक कि उसे समाप्त कर लेने पर आप अपने को एक नई दुनिया में पाते हैं। महात्मा गाँधी ने स्पष्ट कर दिया है, कि हम पद के लिए, धन के लिए, अधिकार के लिए स्वराज्य नहीं चाहते, हम स्वराज्य चाहते हैं उन गूँगे, बेजबान आदमियों के लिए, जो दिन-दिन दरिद्र होते जा रहे हैं। अगर आज सभी अँग्रेज अफ़सरों की जगह हिन्दुस्तानी हो जायँ, तब भी हम स्वराज्य से उतने ही दूर रहेंगे, जितने इस वक्त हैं। हमारा उद्देश्य तो तभी पूरा होगा, जब हमारी दरिद्र, क्षुधित, वस्त्रहीन जनता की दशा कुछ सुधरेगी।

मगर हमारे ही देश में हमारे ही कुछ ऐसे भाई हैं, जिन्हें इस निवेदन में कोई नयी बात, कोई नया सन्देश नहीं नज़र आता। उन पर उसके ऊँचे, पवित्र भावों का ज़रा भी असर नहीं पड़ा। वह अब भी यही रट लगाये जा रहे हैं कि महात्माजी आग से खेल रहे हैं, समाज की जड़ खोदनेवाली शक्तियों को उभार रहे हैं। जिन्हें अँग्रेजों के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते हैं। वे अपना स्वार्थ देखते हैं, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य में गरीबों को, मजदूरों को, किसानों को स्थान नहीं है, स्थान है केवल अपने लिए; मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन दिन गिरती हुई दशा देख कर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख-देखकर तड़प रहा है, वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता, जिसमें कुछ ऊँचे दरजे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों की त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अँग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमें ऐसे लक्षण नज़र आ रहे हैं, कि यह देशी सत्ताधारी इस आर्थिक संग्राम में आपस में मिल जायेंगे और

प्रजा को दवाने की, इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे। लेकिन यह उन्हीं के हक़ में बुरा होगा। प्रजा की दशा तो अब जितनी बुरी है, उससे बुरी और हो ही क्या सकती है ? हाँ, जो लोग प्रजा के मत्थे ऐश करते हैं, यूरोप में विहार करते हैं, मोटरों में बैठे हुए हवा में उड़ते हैं, उनकी खैरियत नहीं है। हम उन्हें धमकी नहीं दे रहे हैं, धाँधली उसी वक्त तक हो सकती है, जब तक जनता सोई हुई है। हम अब भी आशा रखते हैं, कि महात्माजी का सदुद्योग सत्ताधारियों के विचार-कोण में इच्छित परिवर्तन करेगा। *विचारों का परिवर्तन अब तक तलवार से होता* आया है; लेकिन विचार-जैसी सूक्ष्म वस्तु पर तलवार का असर या तो होता ही नहीं, *या होता है तो स्थायी नहीं होता। सूक्ष्म वस्तु पर सूक्ष्म* वस्तु का ही असर पड़ता है। भारत ने इसके पहले भी संसार के सामने आध्यात्मिक आदर्श रक्खे हैं, वही चेष्टा वह फिर कर रहा है। वह इतिहास की परम्परागत प्रगति को बदल देना चाहता है। वह सफल होगा या विफल, यह दैव के हाथ है; लेकिन उसकी विफलता भी ऐसी होगी, जिस पर सैकड़ों सफलताएँ भेंट की जा सकती हैं।

हमें आशा है, कि वाइसराय के हृदय पर इस निवेदन का कुछ असर होगा, वह उस सौजन्य, विनम्रता और सच्चाई की कुछ क़द्र करेंगे। पर वाइसराय की ओर से उसका जो जवाब दिया गया है, वह सिद्ध कर रहा है कि महात्माजी का सन्देश उनके हृदय तक नहीं पहुँचा।

प्रगतिशील लेखक संघ का अभिनंदन

हमें यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों में भी साहित्य में एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गई है। लन्दन में The Indian Progressive Writers, Association की इसी उद्देश्य से बुनियाद डाल दी गई है, और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने नये मार्ग पर जमी रही, तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा। उस मैनिफेस्टो का कुछ अंश हम यहाँ आशय-रूप में देते हैं—

भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। भारतीय साहित्य, पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी अर्थ में भी। और आज हमारे साहित्य में भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता ही का प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है जो हमारे इतिहास का लज्जास्पद काल है। इस सभा का

प्रगतिशील लेखक संघ का अभिनंदन

हमें यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों में भी साहित्य में एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गई है। लन्दन में The Indian Progressive Writers, Association की इसी उद्देश्य से बुनियाद डाल दी गई है, और उसने जो अपना मैनिफ़ेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने नये मार्ग पर जमी रही, तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा। उस मैनिफेस्टो का कुछ अंश हम यहाँ आशय-रूप में देते हैं—

भारतीय समाज मे बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। भारतीय साहित्य, पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी अर्थ में भी। और आज हमारे साहित्य में भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता ही का प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है जो हमारे इतिहास का लज्जास्पद काल है। इस सभा का

उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों पंडितों और अप्रगतिशील-वर्गों के आधिपत्य से निकालकर उन्हें जनता के निकटतम संसर्ग में लाया जाय, उनमें जीवन और वास्तविकता लाई जाय, जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सकें। हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुए, अपने देश की पतनान्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का सञ्चय करेंगे, जिससे हम अपनी मंज़िल पर पहुंच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिये, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आयेगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है; वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

इन उद्देश्यों को सामने रखकर इस सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये हैं—

१) भारत के भिन्न भिन्न भाषा प्रांतों में लेखकों की संस्थायें बनाना, उन संस्थाओं में सम्मेलनों, पैम्फ़लेटों आदि द्वारा सहयोग और समन्वय पैदा करना, प्रान्तीय, केन्द्रीय और लन्दन की संस्थाओं में निकट सम्बन्ध स्थापित करना।

२) उन साहित्यिक संस्थाओं से मेल-जाल पैदा करना, जो इस सभा के उद्देश्यों के विरुद्ध न हों।

३) प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करना, जो कलात्मक दृष्टि से भी निर्दोष हो, जिससे हम सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर सकें और भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ़ सकें।

४) हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा और इंडो-रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि स्वीकार कराने का उद्योग करना।

(५) साहित्यकारों के हित की रक्षा करना, उन साहित्यकारों की सहायता करना, जो अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराने के लिए सहायता चाहते हों।

६) विचार और राय को आज़ाद करने के लिए प्रयत्न करना।

मैनिफेस्टो पर सर्वश्री डा० मुल्कराज आनन्द, डा० के० एस० भट्ट, डा० जे० सी० घोष, डा० एस० सिन्हा, एम० डी० तासीर और एस० एस० ज़हीर के शुभ नाम हैं, और पत्र-व्यवहार का पता है—

Dr. M. R. Anand
32, Russell Square
London (W. C. 1)

हम इस संस्था का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह चिरंजीवी हो। हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की ज़रूरत है और हमने यही आदर्श अपने सामने रक्खा है। हंस भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है। हाँ, हम अभी इंडो-रोमन को राष्ट्र लिपि स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं; क्योंकि हम नागरी लिपि में संशोधन करके उसे इतना पूर्ण बना लेना चाहते हैं, जिससे वह भारत की सभी भाषाओं के लिये समान रूप से उपयोगी हो। हम यह भी कह देना चाहते हैं, कि अगर यह संस्था भारत के उस साहित्य को, जो उसके उद्देश्यों के अनुकूल हो, अंग्रेज़ी में अनुवाद कराके प्रकाशित कराने का प्रबन्ध कर सके, तो वह साहित्य और राष्ट्र—दोनों ही की सच्ची सेवा होगी। हम

हिन्दी-लेखक संघ के सदस्यों से भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि वे इन प्रस्तावों पर विचार करें और उस पर अपना मत प्रकट करें। लेखक-संघ के उद्देश्य भी बहुत कुछ इस संस्था से मिलते हैं और कोई कारण नहीं कि दोनों में सहयोग न हो सके।

उट्ठो मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो

अबकी बिहार का प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन २२-२३ फरवरी को पूर्णिया में हुआ। श्री बाबू यशोदानन्दन जी ने, जो हिन्दी के बड़े वृद्ध साहित्य-सेवी हैं, सभापति का आसन ग्रहण किया था। इस वृद्धा वस्था में भी उन्होंने यह दायित्व स्वीकार किया, यह उनके प्रौढ़ साहित्यानुराग का प्रमाण है। प्रान्त के हरेक भाग से प्रतिनिधि आये हुए थे और खूब उत्साह था। मेहमानों के आदर-सत्कार में स्वागताध्यक्ष श्री बाबू रघुवंशसिंह के सुप्रबन्ध से कोई कमी नहीं हुई। सभापति महोदय ने अपने भाषण में हिंदी भाषा, साहित्य, देव नागरी लिपि आदि विषयों का विस्तार से उल्लेख किया और बिहार में हिन्दी के प्रचार और प्रगति की जो चर्चा की, वह बिहार के लिए गौरव की वस्तु है। हमें नहीं मालूम था कि कविता में खड़ी बोली के व्यवहार की प्रेरणा पहले बिहार में हुई, और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की कल्पना भी बिहार की ही ऋणी है। मुसलमानी शासन-काल में हिन्दी की वृद्धि क्योंकर हुई, इस पर आपने निष्पक्ष प्रकाश डाला। आप उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा नहीं मानते, बल्कि उसे हिन्दी का ही एक रूप कहते हैं। आपने कहा—

'मुसलमानी-शासन ने हिन्दी-भाषा के प्रसार और प्रचार के मार्ग में बड़ी सहायता पहुँचाई है। उसी काल में हिन्दी के तीन रूप हो गये थे। एक नागरी लिपि में व्यक्त ठेठ हिन्दी, जिसे लोग अधिकांश में 'भाषा' या 'देव-नागरी' या 'नागरी' कहते थे, दूसरा उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई फारसी मिश्रित हिन्दी, अर्थात् उर्दू और तीसरी पद्य हिन्दी यानी ब्रज-भाषा। जो हिन्दी आज राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर अभिषिक्त होने की अधिकारिणी है, वह देव नागरी है। यह और उर्दू वस्तुतः एक ही है और दिल्ली प्रांत की बोली है।'

इधर बिहार में भी संयुक्तप्रान्त की भांति यह आयोजन किया जा [रह]ा है कि प्रारम्भिक दरजों में रीडरों की भाषा हिन्दी और उर्दू दोनों [ल]िपियों में एक कर दी जाय, केवल लिपि का अन्तर हो। बिहार में [इ]स प्रस्ताव का विरोध किया जा रहा है और अग्रवालजी ने अपने भाषण [में] उसका विरोध किया। आपके विचार में इससे उर्दू और हिन्दी दोनों [क]ो हानि पहुँचेगी और जो बालक इन रीडरों को पढ़कर निकलेंगे, वे [कि]सी भाषा के साहित्य-ग्रंथ पढ़ने में असमर्थ होंगे; मगर जब यह माना [ज]ाता है कि उर्दू केवल फारसी-मिश्रित हिन्दी है, और हिन्दी केवल [सं]स्कृत मिश्रित उर्दू, तो अगर हम फारसी और संस्कृत को यथासाध्य [दो]नों में से निकाल दें, तो दोनों एक हो जाती हैं, केवल लिपि का [अ]न्तर रह जाता है। जहाँ तक हम दोनों रूपों को मिलाये रख सकें, [व]हाँ तक तो हमें मिलाये रहने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। हाँ, [ज]हाँ दोनों का मिश्रण असम्भव हो जाय, वहाँ पृथक् हो जाने में कोई [बा]धा नहीं। शुरू ही से क्यों इस भेद पर ज़ोर दिया जाय। लिपि का [भे]द तो है ही, भाषा के भेद को अगर मिटाया जा सके, तो हमें तो इसमें [हा]नि के बदले लाभ ही नज़र आता है। चौथे या पाँचवें दरजे तक [ए]क ही भाषा रहने से मुसलमान लड़कों को संस्कृत के और हिन्दू [ल]ड़कों को फारसी के सैकड़ों शब्द अनिवार्य रूप से मालूम हो जायँगे [औ]र इससे उनके परस्पर व्यवहार में सुविधा ही होगी। जिसे साहित्य [प]ढ़ने का शौक है, वह चौथा या मिडिल पास करके साहित्य की दो-[ती]न किताबें चार महीनों में पढ़कर इस कमी को पूरा कर लेगा। जब [ह]म अँग्रेज़ी के हजारों शब्दों को अपनी भाषा में आने से किसी तरह [न]हीं रोक सकते (और न रोकना चाहिए) तो सौ-दो सौ फारसी शब्दों [के] मिल जाने से उर्दू का और सौ-दो सौ फारसी शब्दों के आ जाने से [हि]न्दी का ह्रास न होगा।

इस सम्मेलन के साथ एक कवि-सम्मेलन भी हुआ था, जिसके [स]भापति श्री प्रो० मनोरंजन एम० ए० थे। प्रोफेसर साहब स्वयं अच्छे

कवि हैं और जीवन में कविता का स्थान क्या है, यह ख़ूब जानते हैं। आपने बहुत ठीक कहा, कि कविता केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं और न गा-गाकर सुनाने की चीज़ है। यह तो हमारे हृदय में प्रेरणाओं को डालने वाली, हमारे अवसाद-ग्रस्त मन में आनन्दमय स्फूर्ति का संचार करने वाली, हममें कोमल भावनाओं को जगाने वाली (स्त्रैण भावनाओं को नहीं) वस्तु है। कविता में अगर जाग्रति पैदा करने की शक्ति नहीं है, तो वह बेजान है। अगर हाला और प्याले, या तन्त्री के तार, या गुलबुल और क़फ़स, उसमें जीवन को तड़पाने वाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओं के सामने बैठकर आँसू बहाने का यह ज़माना नहीं है। उस व्यापार में हमने कई सदियाँ खो दीं, विरह का रोना रोते-रोते हम कहीं के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए, जो हज़रते इक़बाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डालें। देखिए, इस कवि ने लेनिन को ख़ुदा के सामने ले जाकर क्या फ़रियाद कराई है और उसका ख़ुदा पर इतना असर होता है कि वह अपने फ़रिश्तों को हुक्म देता है—

> उट्ठो, मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो,
> काख़े[1] उमरा के दरो दीवार हिला दो।
> गरमाओ ग़ुलामों का लहू सोज़े यक़ीं से,
> कुंजिश्के[2] फ़रोमाया[3] को शाहीं[4] से लड़ा दो।
> सुल्तानिये[5] जमहूर[6] का आता है ज़माना,
> जो नक़्शे कुहन[7] तुमको नज़र आये मिटा दो।
> जिस खेत से दहक़ाँ[8] को मयस्सर नहीं रोज़ी,
> उस खेत के हर ख़ोशए[9] गंदुम को जला दो।
> क्यों ख़ालिक़ो[10] मख़लूक़[11] में हायल रहें पर्दे,
> पीराने[12] कलीसा को कलीसा[13] से उठा दो।

(१) महल (२) चिड़िया (३) तुच्छ (४) शिकरा (५-६) प्रजा सत्ता (७) पुराना (८) किसान (९) गेहूँ की बाल (१०) ख़ुदा (११) सृष्टि (१२) पुजारी (१३) गिरजे।

अतीत का मुर्दा बोझ

२१, २२ सितम्बर को पटना ने अपने साहित्य परिषद् का कई बरसों के बाद आने वाला वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। हिन्दी के शब्द जादूगर श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी सभापति थे और साहित्यकारों का अच्छा जमघट था। हम तो अपने दुर्भाग्य से उसमें सम्मिलित होने का गौरव न पा सके। शुक्रवार की सन्ध्या समय से ही हमें ज्वर हो आया और वह सोमवार को उतरा। हम छटपटा कर रह गये। रविवार को भी हम यही आशा करते रहे कि आज ज्वर उतर जायगा और हम चले जायंगे, लेकिन ज्वर ने उस वक्त गला छोड़ा, जब परिषद् का उत्सव समाप्त हो चुका था। पटने जाकर खाट पर सोने से काशी में खाट पर पड़े रहना और ज्यादा सुखद था, और यों भी बीमारी के समय, चाहे वह हलकी ही क्यों न हो, बुजुर्गों के मतानुसार, और धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार, काशी के समीप ही रहना ज्यादा कल्याणकारी होता है...लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से! अतएव हमें आशा है कि हमारे साहित्यिक बन्धुओं ने हमारी गैरहाजिरी मुआफ कर दी होगी। इस ज्वर ने ऐसा अच्छा अवसर हमसे छीन लिया, इसका बदला हम उससे अवश्य लेंगे, चाहे हमें अहिंसा नीति तोड़नी क्यों न पड़े। सभापति का जो भाषण छपकर बासी भात के रूप में मिला है, वह गर्म गर्म कितना स्वादिष्ट होगा...यह सोचता हूँ तो यही जी चाहता है कि ज्वर महोदय कहीं फिर दिखें, लेकिन उनका कहीं पता भी नहीं। इस भाषण में जीवन है, आदेश है, मार्ग निर्देशन

उनके इर्द गिर्द क्या हो रहा है, दुनिया किस गति से बढ़ी जा रही है, उन्हें इसकी खबर न थी। और शायद बख्तियार उन विद्वानों से मुज़ाहिम न होता और उनकी वृत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती, तो वे उसी बेफ़िक्री से अपना शास्त्र पढ़े जाते और आध्यात्मिक विचारों के आनन्द लूटते रहते और अमर जीवन की मंजिल नापते चले जाते। उधर पश्चिम के नाविक समुद्र के तूफ़ान का मुकाबला करके संसार विजय कर रहे थे और हमारे बाबा दादा बैठे मुक्ति का मार्ग ढूँढ रहे थे। पश्चिम ने जिस वस्तु के लिए तपस्या की, उसे वह वस्तु मिली। हमारे पूर्वजों ने जिस वस्तु की तपस्या की, वह उन्हें मिली या मिलेगी, इसके बारे में अभी कुछ कहना कठिन है। जिसके लिए संसार मिथ्या हो, और दुःख का घर हो, उसकी यदि संसार उपेक्षा करे, तो उन्हें शिकायत का क्या मौक़ा है? हमें स्वर्ग की ओर से निश्चिन्त रहना चाहिए, वह हमें मिलेगा और जरूर मिलेगा। चतुर्वेदी जी के ही शब्दों में 'मन्थों के बन्धनों के आदी हम स्वामी राम के कथन में भी मुक्ति का गीत ढूँढने के बजाय वेदान्त का बन्धन ढूँढने लगे।' और क्यों न ढूँढते? बन्धनों के सिवा, और मन्थों के सिवा हमारे पास और क्या था? पंडित लोग पढ़ते थे और योद्धा लोग लड़ते थे और एक दूसरे की बेइज्जती करते थे और लड़ाई से फ़ुरसत मिलती थी तो व्यभिचार करते थे। यह हमारी व्यावहारिक संस्कृति थी। पुस्तकों में वह जितनी ही ऊँची और पवित्र थी, व्यवहार में उतनी ही निन्द्य और निकृष्ट।

आगे चलकर सभापति जी ने हमारी वर्तमान साहित्यिक मनोवृत्ति का जो चित्र खींचा है, उसका एक एक शब्द यथार्थ है :

'हम अपनी इस आदत को क्या करें? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो तुरन्त मान लेता हूँ और उस अद्रव्य को पेट में लेकर फिर बाहर लाता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस निन्द्य निधि की खैरात बाटता हूँ। संसार के दोषों का मैं बिना प्रमाण सरल विश्वासी होता हूँ और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी

लोक निन्दा पर विश्वास करे। किन्तु यदि किसी के गुण, किसी की मौलिकता, किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूँ, तब मैं उसके लिए प्रमाण वसूल करने के इजहार लेना चाहता हूँ।'

और भाषण के अन्तिम शब्द तो बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं:

'हम बड़े हों या छोटे, हमने घर घर या व्यक्ति व्यक्ति में मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं, मर जाना गुनाह हो गया है......आज के साहित्यिक चिन्तक पर जिम्मेदारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का सार अपनी पीढ़ी में बोये। यह पुरुषार्थ शस्त्रधरों से नहीं हो सकता, यह तो कलम के धनियों ही के करने का काम है।'

साहित्यिक उदासीनता

हिन्दी-साहित्य में आजकल जो शिथिलता-सी छाई हुई है, उसे देखकर साहित्य प्रेमियों को हताश होना पड़ता है। आज हिन्दी में एक भी ऐसा सफल प्रकाशक नहीं, जो साल भर में दो चार पुस्तकों से अधिक निकाल सकता हो। प्रत्येक प्रकाशक के कार्यालय में हस्त-लिखित पुस्तकों का ढेर लगा पड़ा है; पर प्रकाशकों को साहस नहीं होता कि उन्हें प्रकाशित कर सकें। दो-चार इने गिने लेखकों की पुस्तकें ही छपती हैं; पर वहाँ भी पुस्तकों की निकासी नहीं होती। दो हज़ार का एडीशन बिकते-बिकते कम से-कम तीन साल लग जाते हैं। अधिकाश पुस्तकों की तो दस साल में अगर दो हजार प्रतियाँ निकल जायँ, तो गनीमत समझी जाती है। जब पुस्तकों की बिक्री का यह हाल है, तो प्रकाशक पुरस्कार कहाँ से दें और दें भी तो वह पत्र-पुष्प से अधिक नहीं हो सकता। पत्र-पुष्प से लेखक को क्या संतोष हो सकता है क्योंकि वह भी आदमी है और उसे भी जरूरतें होती ही हैं। इसका फल यह है, कि लेखक अलग उत्साहहीन होते जाते हैं, प्रकाशक अलग कंधा डालते जाते हैं और साहित्य की जो उन्नति होनी चाहिए, वह नहीं होने पाती। लेखक को अच्छा पुरस्कार मिलने की आशा हो तो वह तन-मन से रचना में प्रवृत्त हो सकता है, और प्रकाशक को यदि अच्छी बिक्री की आशा हो तो वह रुपये लगाने को भी तैयार है। लेकिन सारा दारमदार पुस्तकों की बिक्री पर है और जब तक हिन्दी पाठक पुस्तकें खरीदना अपना कर्तव्य न समझने लगेंगे, यह शिथिलता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। कितने खेद की बात

है, कि बड़ी बड़ी आमदनी रखनेवाले सज्जन भी हिन्दी की पुस्तकें माँगकर पढ़ने में संकोच नहीं करते। शायद वह हिन्दी-पुस्तकें पढ़ना ही हिन्दी पर कोई एहसान समझते हैं। इस विषय में उर्दूवाले क्या कर रहे हैं, उसकी चर्चा हम यहाँ कर देना चाहते हैं। लाहौर में, जो उर्दू का केंद्र है, कुछ लोगों ने एक समिति बना ली है और उनका काम है शहर-शहर और कस्बे-कस्बे घूमकर पाठकों से अपनी आय का शतांश उर्दू-पुस्तकें खरीदने में खर्च करने का अनुरोध करना। पाठक जो पुस्तक चाहे अपनी रुचि के अनुसार खरीदे; पर खरीदे ज़रूर। पाठकों से एक प्रतिज्ञा कराई जाती है और सुनते हैं कि समिति को इस उद्योग में खासी सफलता हो रही है। बहुत से पाठक तो केवल इसलिए पुस्तकें नहीं खरीदते कि उन्हें खबर नहीं कौन-कौन सी अच्छी पुस्तकें निकलती हैं। उनका इस तरफ़ ध्यान ही नहीं जाता। ज़रूरत की चीज़ें तो उन्हें झक मारकर लेनी पड़ती हैं। स्त्री-लड़के सभी आग्रह करते हैं; लेकिन पुस्तकों के लिए ऐसा आग्रह अभी नहीं होता। केवल पाठ्य पुस्तकें तो खरीद ली जाती हैं, अन्य पुस्तकों का खरीदना अनावश्यक या फ़िज़ूल-खर्ची समझी जाती है। मगर जब समिति ने पबलिक का ध्यान इस ओर खींचा, तो लोग बड़े हर्ष से उसके साथ सहयोग करने को तैयार हो गये। कितने ही सज्जनों ने तो पुस्तकों के चुनाव का भार भी समिति के सिर रख दिया। जिसकी वार्षिक आय बारह सौ रुपये है, वह साल भर में बारह रुपये की पुस्तकें खरीदने का यदि प्रण कर ले, तो हमें विश्वास है, कि थोड़े ही दिनों में हिन्दी-साहित्य का बड़ा कल्याण हो सकता है। ऐसे सज्जनों की कमी नहीं है, केवल साहित्य-प्रेमियों को उनके कर्तव्य की याद दिलाने की ज़रूरत है। अगर उर्दू में ऐसी समिति बन सकती है, तो हिन्दी में भी अवश्य बन सकती है। अगर हमारी हिन्दी सभाएँ इस तरफ़ ध्यान दें, तो साहित्य का बहुत उपकार हो सकता है।

लेखक संघ

*लेखक संघ के विषय में 'हंस' में विज्ञप्ति निकल चुकी है और साहित्य-सेवियों तथा पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि लेखकों ने संघ का खुले दिल से स्वागत किया है। और लगभग माठ सज्जन उसके सदस्य बन चुके हैं। चारों तरफ से आशाजनक पत्र आ रहे हैं मगर अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका कि संघ का मुख्य काम क्या होगा? संयोजक महोदय ने अपने प्रारम्भिक पत्र में संघ के उद्देश्यों का कुछ जिक्र किया है, और जो लोग संघ में शामिल हुए हैं, वे उन उद्देश्यों से सहमत हैं, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन वह उसूल कार्य बनकर क्या रूप धारण करेंगे, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। संघ लेखकों के स्वत्वों की रक्षा करेगा। लेकिन कैसे? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक संघ उसी तरह लेखकों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे, जैसे अन्य मजूर संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते हैं; क्योंकि लेखक भी मजूर ही हैं, यद्यपि वे हथौड़े और बसुले से काम न करके कलम से काम करते हैं। और लेखक मजूर हुए तो प्रकाशक पूँजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशकों की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनों का मत है कि लेखक संघ को पूँजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन संस्था बनाना चाहिए जिससे वह लेखक को उसकी मजदूरी की ज्यादा से ज्यादा उजरत दे सके। खुद केवल नाम मात्र का नफा ले ले, वह भी केवल कार्यालय के कर्मचारियों के वेतन और कार्यालय के दूसरे कामों के लिए। सम्भव है इसी तरह के और

प्रस्ताव भी लोगों के मन में हों। ऐसी दशा में यही उचित जान पड़ता है कि संघ के कार्यक्रम को निश्चय करने के लिए सभी सदस्यों को किसी केन्द्र में निमन्त्रित किया जाये और वहां सब पक्षों की तजवीजें सुनने और उन पर विचार करने के बाद कोई राय कायम की जाये। और तब इस निश्चय को कार्य रूप में लाने के लिए एक कार्यकारिणी समिति बनाई जाय। उस सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य को अपने प्रस्ताव पेश करने और उसका समर्थन कराने का अधिकार होगा और जो कुछ होगा बहुमत से होगा, इसलिए किसी को शिकायत का मौका न होगा। हम इतना अवश्य निवेदन कर देना चाहते हैं कि मौजूदा हालत ऐसी नहीं है कि प्रकाशकों को लेखकों के साथ ज्यादा न्यायसंगत व्यवहार करने पर मजबूर किया जा सके। साहित्य का प्रकाशन करने वाले प्रकाशकों की वास्तविक दशा का जिन्हें अनुभव है, वह यह स्वीकार करेंगे कि इस समय एक भी ऐसा साहित्य ग्रन्थ प्रकाशक नहीं है जो नफ़े से काम कर रहा हो। जो प्रकाशक धर्मग्रन्थों या पाठ्यपुस्तकों का व्यापार करते हैं उनकी दशा इतनी बुरी नहीं है; कुछ तो खासा लाभ उठा रहे हैं। लेकिन जो लोग मुख्यतः साहित्य ग्रन्थ ही निकाल रहे हैं, वे प्रायः बड़ी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते हैं। कारण है साधारण जनता की साहित्यिक अरुचि। जब प्रकाशक को यही विश्वास नहीं कि किसी पुस्तक के कागज़ और छपाई की लागत भी निकलेगी या नहीं, तो वह लेखकों को पुरस्कार या रायल्टी कहाँ से दे सकता है। नतीजा यह होगा कि प्रकाशकों को अपना कारोबार चलाने के लिए सस्ती पुस्तकें निकालनी पड़ेंगी और अच्छे लेखकों की पुस्तकें कोई प्रकाशक न मिलने के कारण पड़ी रह जायेंगी। साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन प्रायः बन्द सा है। प्रकाशक नई पुस्तकें छापते डरते हैं; और नये लेखकों के लिए तो द्वार ही बन्द हैं। इसलिए पहले ऐसी परिस्थिति तो पैदा हो कि प्रकाशक को प्रकाशन से नफ़े की आशा हो। हिन्दी में तो कहीं साहित्य की माँग इतनी भी गुजराती, मराठी या बंगला के बराबर पुस्तकों का

प्रचार नहीं कर सकती। अगर नफे की आशा हो तो प्रकाशक बड़ी खुशी से रुपये लगायेगा और तभी लेखकों के लिए कुछ किया जा सकता है। इसलिए अभी तो संघ को यही सोचना पड़ेगा कि जनता में साहित्य की रुचि कैसे बढ़ाई जाये और किस ढंग की पुस्तकें तैयार की जायँ जो जनता को अपनी ओर खींच सकें। अतएव संघ को साहित्यिक प्रगति पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा करनी पड़ेगी। इस समय जो संस्थाएँ हैं जैसे नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन या हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उनके काम में संघ को हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं। नागरी प्रचारिणी सभा अब विशेषकर पुराने कवियों की और उनकी रचनाओं की खोज कर रही है। वह साहित्यिक पुरातत्व से मिलती जुलती चीज है। सम्मेलन को परीक्षाओं से विशेष दिलचस्पी है और हिन्दुस्तानी एकेडेमी एक सरकारी संस्था है, जहाँ प्रोफेसरों का राज है और जहाँ साधारण साहित्य-सेवियों के लिए स्थान नहीं। संघ का कार्य क्षेत्र इनसे अलग और ऐसा होना चाहिए जिससे साहित्य और उसके पुजारी दोनों की सेवा हो सके।

———

एक प्रसिद्ध गल्पकार के विचार

मि० जेम्स ओपेनहाइम अँग्रेज़ी के अच्छे कहानी-लेखक
एक अँग्रेज़ी पत्रिका के सम्पादक ने कहानी-कला पर मि० ओ
कुछ बातचीत की थी। उसमें जो प्रश्नोत्तर हुआ, उसका
पाठकों के मनोरंजन के लिए यहाँ देते हैं। पत्रिकाओं में जि
आती हैं, उतने और किसी विषय के लेख नहीं आते। यहाँ
सबों को पढ़ना मुश्किल हो जाता है। अधिकांश तो कुछ
होती हैं, जिनके कथानक, भाव, भाषा, शैली में कोई मौ
होती और ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी लिखने के पहले उ
कला के मूल तत्वों को समझने की चेष्टा नहीं की। यह वि
है कि सिद्धान्तों को पढ़ लेने से ही कोई अच्छा कहानी-लेख
जाता, उसी तरह जैसे छन्द-शास्त्र पढ़ लेने से कोई अच्छा क
जाता। साहित्य-रचना के लिए कुछ-न-कुछ प्रतिभा अवश्य होनी
फिर भी सिद्धान्तों को जान लेने से अपने में विश्वास आ जा
हम जान जाते हैं, कि हमें किस ओर जाना चाहिए। हमें वि
इस कहानी-लेखक के विचारों से उन पाठकों को विशेष लाभ
कहानी लिखना और कहानी के गुण-दोष समझना चाहते हैं—

प्रश्न—पहले आपके मन में किसी कहानी का विचार कै
होता है?

उत्तर—तीन प्रकार से। पहला, किसी चरित्र को देखकर
व्यक्ति में कोई असाधारणता पाकर मैं उस पर एक कहानी क

कर लेता हूँ। दूसरे, किसी नाटकीय घटना-द्वारा। जब कोई रोचक और विचित्र घटना हो जाती है, तो उसमें कुछ उलझाव और नवीनता लाकर एक प्लाट बना लेता हूँ। तीसरे, किसी समस्या या सामाजिक प्रश्न द्वारा। समाचार-पत्रों में तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रश्नों पर आलोचनाएँ होती रहती हैं। उनमें से कोई प्रश्न लेकर, जैसे बालकों के परिश्रम और मजूरी का प्रश्न, उन पर कहानी का ढाँचा खड़ा कर लेता हूँ।

प्रश्न—जब आप किसी चरित्र का चित्रण करने लगते हैं, तो क्या उसमें वास्तविक जीवन की बातें लिखते हैं?

उत्तर—कभी नहीं। वास्तविक जीवन की बातों और कृत्यों से कहानी नहीं बनती। वह तो केवल कहानी के लिये ईंट-मसाले का काम दे सकते हैं। वास्तविक जीवन की नीरसताओं और बाधाओं से कुछ देर तक मुक्ति पाने के लिये तो लोग कहानियाँ पढ़ते हैं। जब तक कहानी में मनोरंजकता न रहेगी, तो उससे पाठकों को क्या आनन्द मिलेगा? जीवन में बहुत-सी बातें इतनी मनोरंजक और विस्मयकारी होती हैं, जिनकी कोई बड़े से बड़ा कलाकार भी कल्पना नहीं कर सकता। पुरानी कहावत है—सत्य कथा से कहीं विचित्र होता है। कलाकार जो कुछ करता है, वह यही है कि उन अनुभूतियों पर अपने मनोभावों का, अपने दृष्टिकोण का रंग चढ़ा दे।

प्रश्न—क्या एक कल्पित चरित्र की सृष्टि करने की अपेक्षा ऐसे चरित्र का निर्माण करना ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो सजीव प्राणी की भाँति हँसता-बोलता, जीता-जागता दिखाई दे?

उत्तर—हाँ, यह बिलकुल ठीक है। इसलिए जब तक मैं चरित्र-नायक को अच्छी तरह जान नहीं लेता, उसके विषय में एक शब्द भी नहीं लिखता। इससे मुझे बड़ी मदद मिलती है। मैं उसके विषय में पहले यह जानना चाहता हूँ कि उसके माँ बाप कौन हैं? वह कहाँ पैदा हुआ था? उसकी बाल्यावस्था किन लोगों की संगत में गुजरी? उसने

कितनी और कैसी शिक्षा पाई ? उसके भाई-बहन हैं या नहीं ? उसके मित्र किस तरह के लोग हैं ? सम्भव है, मैं इन गौण बातों को अपनी कहानी में न लिखूँ ; लेकिन इनका परिचय होना आवश्यक है। इन बातों से चरित्र-चित्रण सजीव हो जाता है। जब तक लेखक को ये बातें न मालूम हों, वह चरित्र के विषय में कोई दृढ़ कल्पना नहीं कर सकता, न उसको भिन्न भिन्न परिस्थितियों में रखकर स्वाभाविक रूप से उसका संचालन कर सकता है। वह हमेशा दुबधे में पड़ा रहेगा।

प्रश्न—चरित्रों के वर्णन में आप किस तरह की बातें लिखना अनुकूल समझते हैं ?

उत्तर—मैं उसकी वेश-भूषा, रंग-रूप, आकार-प्रकार आदि गौण बातों का लिखना अनावश्यक समझता हूँ। मैं केवल ऐसी स्पष्ट और प्रत्यक्ष बातें लिखता हूँ, जिनसे पाठक के सामने एक चित्र खड़ा हो सके। बहुत-सी गौण बातें लिखने से चित्र स्पष्ट होने की जगह और धुँधला हो जाता है। मुझे खूब याद है कि बालज़क ने अपने एक उपन्यास में एक चंचल रमणी के विषय में लिखा था, कि 'वह तीतरी की भाँति कमरे में आई। उसके साँवले रंग पर लाल कपड़े खूब खिलते थे।' इस वाक्य से उस स्त्री का चित्र मेरी आँखों के सामने फिरने लगा; लेकिन बालज़क को इतने ही से सन्तोष न हुआ। उसने डेढ़ पृष्ठ उस चरित्र के विषय में छोटी-छोटी बातें लिखने में रँग दिये। फल यह हुआ कि जो चित्र मेरी कल्पना में खड़ा हुआ था, वह धुँधला होते होते बिलकुल गायब हो गया। वास्तव में किसी चरित्र का परिचय कराने के लिए केवल एक विशेष लक्षण काफी है। दूसरी बातें अवसर पड़ने पर आगे चलकर बयान की जा सकती हैं।

प्रश्न—एक बात और। क्या आप अपनी गल्पों में दृष्टिकोण का परिवर्तन भी कभी करते हैं ? अर्थात्—कथा के विकास और प्रगति पर कभी एक चरित्र की दृष्टि से और कभी दूसरे चरित्र की दृष्टि से नज़र डालते हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं, मुझे यह पसन्द नहीं है। मैं फ्रांसीसी शैली को अच्छा समझता हूँ। किसी एक चरित्र को अपना मुख्य-पात्र बना कर लिखता हूँ और जो कुछ सोचता या अनुभव करता हूँ सब उसी के मुख से कहला देता हूँ। इससे कहानी में यथार्थता आ जाती है।

प्रश्न—लेखकों के विषय में, अन्तःप्रेरणा के विषय में आपका क्या विचार है?

उत्तर—मैं तो अन्तःप्रेरणा को मानसिक दशा समझता हूँ। प्रत्येक कहानी, लेखक के मन का ही प्रतिबिम्ब होती है। भावों में तीव्रता और गहराई पैदा करने के लिए प्रबल भावावेश होना चाहिए। यदि ऐसा आवेश न हो, तो भी गल्प के विषय को बार-बार सोचकर मन में उन्हीं बातों की निरन्तर कल्पना करके हम अपने भावों में तीव्रता उत्पन्न कर सकते हैं। मुझे किसी कहानी का शुरू करना बहुत कठिन मालूम होता है; लेकिन एक बार शुरू कर देने के बाद उसे अधूरा नहीं छोड़ता।

इसके बाद और भी कुछ सवाल-जवाब हुए, जिनमें मि० ओपेन हाइम ने बताया कि वह कहानी लिखने के पहले उसका कोई खाका नहीं तैयार करते, केवल उसका अन्त और उसका उद्देश्य सोच लेते हैं। गल्प के प्रारंभ में आप ने बताया कि उसे चाहे जिस रूप में रखिए—वाक्य हो या संभाषण, कोई घटना हो या कल्पना, चाहे कोई अनुभूति या विचार हो—जो कुछ हो, उसमें मौलिकता, नवीनता और अनोखापन हो। वह सामान्य, सचर, सौ बार की दुहराई हुई बात न हो। अन्त में आपने कहा कि गल्प-रचना में भी अन्य कलाओं की भाँति अभ्यास से सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

समाचारपत्रों के मुफ्तखोर पाठक

जहाँ विदेश से निकलनेवाले पत्रों के लाखों ग्राहक होते हैं वहाँ हमारे अच्छे से अच्छे भारतीय पत्र के ग्राहकों की संख्या कुछ हजारों से अधिक नहीं होती। यह एक विचारणीय बात है। जापान का ही एक उदाहरण लीजिये। यह तो सबको मालूम है कि जापान भारतवर्ष का पष्टमांश ही है, फिर भी जहाँ भारत से कुल ३५०० पत्र प्रकाशित होते हैं, वहाँ जापान से ४५००, और यह ४५०० भी ऐसे पत्र हैं जिनके प्रकाशन की संख्या हजारों नहीं लाखों की है। 'ओसाका मैनीची' नाम का एक दैनिक पत्र है। उसके कार्यालय की इमारत ही तैंतीस लाख रुपये की है। 'ओसाका ओशाही' और 'टोकियो नीची' नामक दो पत्र भी इसी कोटि के हैं। एक-एक पत्र के कार्यालय में दो तीन हजार तक आदमी काम करते हैं और उनका जाल संसार भर में फैला हुआ है। जिस पत्र के कार्यालय में चार छः सौ आदमी काम करते हैं, उसकी तो वहाँ कोई गणना ही नहीं होती। कई पत्र तो वहाँ ऐसे हैं जो पचास लाख तक छापे जाते हैं और दिन में जिनके आठ आठ संस्करण निकलते हैं और जिनको वितरण करने के लिए हवाई जहाजों से काम लिया जाता है। यह है जापानी पत्रों का वैभव। और इस वैभव का कारण है वहाँ की शिक्षित जनता का पठन प्रेम और सहयोग। वहाँ के प्रत्येक पाँच आदमियों में आपको एक आदमी अखबार पढ़ने वाला अवश्य मिलेगा। पूंजीपति से लेकर मजदूर तक, बूढ़े से लेकर छोटे बच्चे तक, पत्रों को स्वयं खरीद कर पढ़ते हैं। फुरसत के समय को वे लोग

बेकार के हंसी-मजाक, खिलवाड़ या गाली-गलौज में नहीं, अखबारों के पढ़ने में बिताते हैं। जिस प्रकार वे अपनी शारीरिक भूख के लिए अन्न को आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार वे अपनी आत्मा की भूख के लिए पत्रों को खरीदकर पढ़ना जरूरी समझते हैं। उन्होंने पत्रों का पढ़ना अपना एक अटल नियम बना रखा है। जो मनुष्य जिस रुचि का होता है, अपनी रुचि के पत्र का ग्राहक बन जाता है और उस पत्र से अपना ज्ञान-वर्द्धन और मनोरंजन करता है। वहाँ के लोग पत्रों को खरीद कर पढ़ते हैं। कहीं से मांगकर नहीं लाते। वे दूसरों के अखबार को जूठन समझते हैं। यही कारण है कि वहाँ के पत्रों के ग्राहकों की संख्या पचास लाख तक है। जब हम यह समाचार पढ़ते हैं और भारतीय पत्रों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं। कहते हैं विदेश के लोग पत्र निकालना जानते हैं। वे लोग शिक्षा में और सभी बातों में हमसे आगे बढ़े हुए हैं। उनके पास पैसा है। यह सभी बातें सही हो सकती हैं। किन्तु भारतीय पत्रों की प्रकाशन संख्या न बढ़ने का केवल यही कारण नहीं है कि भारतीय विद्वान पत्र निकालना नहीं जानते, वे शिक्षा में पिछड़े हुए हैं और पत्रों को खरीदने के लिए भारतीय जनता के पास पैसा नहीं है। यह दलीलें कुछ अंशों में ठीक हो भी सकती हैं; पर भारतीय पत्रों के न पनपने का एक और भी प्रबल कारण है।

हमारे यहाँ ऐसे लाखों मनुष्य हैं, जो पैसे वाले हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, जो शिक्षित हैं, और जिन्हें पत्रों को पढ़ते रहने का शौक भी है। पर वे लोग मुफ़्तखोर हैं। पत्रों के लिए पैसा खर्च करना वे पाप समझते हैं। या तो पत्रों को खोज-खाजकर अपने मित्रों और परिचित लोगों के यहाँ से ले आयेंगे, या लाइब्रेरियों में जाकर देख आयेंगे। लेकिन उनके लिए पैसा कभी न खर्च करेंगे। सोचते हैं जब तिकड़मबाजी से ही काम चल जाता है तो व्यर्थ पैसा कौन खर्च करे। यह दशा ऐसे लोगों की है जो हजारों का व्यवसाय करते हैं और ब्याह

शादी या ओगर मंगर में अंधे बनकर धन व्यय करते रहते हैं। ये लोग बीड़ी और सिगरेट में, पान और तम्बाकू में, नाटक और सिनेमा में, लाटरी और जुए में, चाय और काफी में और विविध प्रकार के दुर्व्यसनों में अपनी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा फूंक सकते हैं; किन्तु पत्रों के लिए एक पाई भी खर्च नहीं कर सकते। जीभ के स्वाद के लिए बाजारों में मीठी और नमकीन चीजों पर ये लोग रुपये खर्च कर सकते हैं पर पत्रों को भूलकर भी नहीं खरीद सकते। इसके विपरीत, खरीदनेवालों को मूर्ख समझते हैं, यद्यपि उन्हीं की जूठन से इनका काम चलता है। अगर बहुत हिम्मत की तो किसी लाइब्रेरी के मेम्बर बन गये और लाइब्रेरियन को अपनी मीठी बातों में फंसाकर नियम के विरुद्ध अनेक पुस्तकें और पत्र पढ़ने के लिए ले गये। और भाग्यवश यदि किसी लेखक से परिचय हो गया, या अपनी तिकड़म से किसी पत्र सम्पादक को साध लिया तो कहना ही क्या, कारूँ का खजाना उन्हें मिल गया। इस प्रकार ये लोग अपना मतलब निकाल लेते हैं। इससे आगे बढ़ना ये लोग मूर्खता समझते हैं। भारतीय पत्रों के प्रति इन लोगों के प्रेम, कर्त्तव्य पालन और सहानुभूति का कितना सुन्दर उदाहरण है! क्या ऐसा सुन्दर उदाहरण आपको संसार के किसी भी देश में मिल सकेगा! धन्य हैं ये लोग और धन्य है अपनी भाषा के प्रति इनका अनुराग!

इन लोगों की यही दुर्वृत्ति भारतीय पत्रों के जीवन को सदैव संकट में डाले रहती है। यह लोग जरा भी नहीं सोचते कि यह प्रवृत्ति समाचार पत्रों के लिए कितनी भयानक और हानिकर सिद्ध हो सकती है। इनकी इस प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय पत्र पनपने नहीं पाते। जहाँ विदेशी पत्रों की निजी इमारतें लाखों रुपयों की होती हैं और उनके कार्यालयों में हजारों आदमी काम करते हैं, वहाँ हमारे भारतीय पत्रों के कार्यालय किराये के, साधारण, या टूटे फूटे मकानों में होते हैं और कहीं कहीं तो उनमें काम करने वाले मनुष्यों की संख्या एक दर्जन भी नहीं होती। नाम मात्र के लिए कुछ इने गिने पत्र ही ऐसे हैं जिनके कार्यालय

में काम करने वाले दो सौ के लगभग या कुछ ही अधिक हों। ऐसे लोगों की कृपा के कारण ही भारतीय पत्रों का यह हाल है। कहीं-कहीं तो बेचारा एक ही आदमी सम्पादक, मुद्रक, व्यवस्थापक, प्रकाशक और प्रूफरीडर है। संसार के लिए यह बात नयी और आश्चर्यजनक है। यह सब इन भारतीय मुफ्तखोर पाठकों की कुवृत्ति का ही परिणाम है, लेकिन अब इन मुफ्तखोर तथा अपनी भाषा के साथ अन्याय करने वालों को कुछ लज्जा आनी चाहिए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि वे लोग भारतीय पत्रों का गला घोंट रहे हैं और उन्हें संसार के उपहास और व्यंग की एक वस्तु बना रहे हैं। जब कि ये लोग बड़ी-बड़ी रकमें व्यर्थ के कामों में फूँक सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि ये अपने देशीय पत्रों के लिए एक छोटी सी रकम खर्च करके उनके प्राणों की रक्षा न कर सकें।

———

जापान में पुस्तकों का प्रचार

मि० ग्लिन शा ने जापानी साहित्य के अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किये हैं। आपने हिसाब लगाया है कि जापान इस समय संसार में सबसे अधिक पुस्तकें प्रकाशित करने वाला देश है। जापान के बाद सोवियट रूस, जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैंड, पोलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क्रम से नम्बर आता है। जापान की आबादी अमेरिका की आधी से ज्यादा नहीं पर हर साल वह अमेरिका से दुगुनी किताबें छापता है।

इस समय जापानी साहित्य की रुचि राष्ट्रीयता की ओर विशेष रूप से हो रही है। इतिहास, साहित्य, धर्म, युद्धनीति आदि सभी अंगों में यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। *विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि बौद्ध धर्म विषय* की ओर यकायक लोगों में बड़ी दिलचस्पी हो गई है। हालांकि यह किसी धार्मिक अनुराग का नतीजा नहीं, केवल राष्ट्र आन्दोलन का ही एक भाग है।

गत वर्ष जापान में दस हजार से ज्यादा पुस्तकें निकलीं। इनमें से २७०० शिक्षा विषयक, २५०० साहित्य, १६०० अर्थनीति, २०० काव्य, और १००० गृह प्रबन्ध विषय की थीं। शिक्षा विषयक पुस्तकों की संख्या ही सबसे ज्यादा थी। इससे मालूम होता है जापान अपने राष्ट्र के निर्माण में कितना उद्योगशील है; क्योंकि शिक्षा ही राष्ट्र की जड़ है। गृह प्रबन्ध की ओर भी उनका ध्यान कितना ज्यादा है। भारत में तो इस विषय की पुस्तकें निकलती ही नहीं, और निकलती भी हैं, तो बिकती नहीं। इस विषय में भी कुछ नई बात कही जा सकती है, कुछ नई अनुभूतियाँ संग्रह की जा सकती हैं—यह शायद हम सम्भव नहीं समझते। जो घर सम्पन्न कहलाते

हैं, उनमें भी पहुँच जाइए तो आपको मालूम होगा कि एक हजार माह-वार खर्च करके भी यह लोग रहना नहीं जानते। न कोई बजट है, न कोई व्यवस्था। अललटप्पू खर्च हो रहा है। जरूरी चीजों की ओर किसी का ध्यान नहीं है, बिना जरूरत की चीजें ढेरों पड़ी हुई हैं। कपड़े कीड़े खा रहे हैं, फर्नीचर में दीमक लग रही है, किताबों में नमी के कारण फफूंदी लग गई है। किसी की निगाह इन बातों की तरफ नहीं जाती। नौकरों का वेतन नहीं दिया जाता। मगर कपड़े बेजरूरत खरीद लिये जाते हैं। यह कुव्यवस्था इसीलिए है कि इस विषय में हम उदासीन हैं।

जापान के अधिकांश साहित्यकार टोकियो में रहते हैं। उसमें छः सौ से अधिक ऐसे हैं जिनके नाम जापान भर में प्रसिद्ध हैं। मगर जापान में लेखकों को ज्यादा पुरस्कार नहीं मिलता।

जापान में साहित्य रचना के भिन्न भिन्न आदर्श हैं। कोई स्कूल जन-साधारण की रुचि की पूर्ति करना ही अपना ध्येय मानता है। तीरू बंगी स्कूल सबसे प्रसिद्ध है। ये लोग पुरानी कथाओं को नई शैली में लिख रहे हैं, यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों में भी इसी रंग के अनुयायी अधिक हैं।

एक दूसरा स्कूल है जो कहता है, हम जन साधारण के लिए पुस्तकें नहीं लिखते, हमारा ध्येय साहित्य की सेवा है। इनका आदर्श है कला कला के लिए।

एक तीसरा दल है जो केवल दार्शनिक विषयों का ही भक्त है। यह लोग अपनी गल्पों के प्लाट भी दर्शन और विज्ञान के तत्वों से बनाते हैं। उनके चरित्र भी प्रायः वास्तविक जीवन से लिये जाते हैं।

रुचि की विभिन्नता

इस विषय में पुस्तक-विक्रेताओं ने बड़े महत्व की बातें कही हैं। जिससे भिन्न-भिन्न श्रेणियों और जातियों की साहित्यिक प्रवृत्ति का ठीक पता चल जाता है। उनका कहना है कि स्त्रियों को सरस साहित्य से विशेष प्रेम है, और मर्दों को गम्भीर साहित्य से। नये पुस्तकालयों में नये-से-नये उपन्यासों ही की प्रधानता होती है और ये पुस्तकालय स्त्रियों की ही कृपा दृष्टि पर चलते हैं। पुराने ढंग के पुस्तकालयों के ग्राहक अधिकतर पुरुष होते हैं, और उनमें भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें संग्रह की जाती हैं। हिन्दुस्तानी और युरोपियन महिलाओं की रुचि में भी बड़ा अन्तर है। यहाँ की देवियाँ उपयोगी विषयों की पुस्तकें पढ़ती हैं, जैसे पाकशास्त्र या गृह विज्ञान या शिशु-पालन आदि। इसके खिलाफ यूरोपियन स्त्रियां कथा-कहानी, शृंगार और फैशन की पुस्तकों से ज्यादा प्रेम रखती हैं। दोनों जातियों के मनुष्यों की रुचि में भी अन्तर है। युरोपियनों को मामूली तौर से कथा अधिक प्रिय है, हिन्दुस्तानियों को अर्थशास्त्र, जीवन-चरित्र, नीति विज्ञान आदि विषयों से ज्यादा प्रेम है। कुछ नवीनता के परम भक्त युवकों को छोड़कर हिन्दुस्तानियों में शायद ही कोई उपन्यास मोल लेता हो।

युरोपियन स्त्री पुरुषों का किस्से कहानी से प्रेम होना इसका प्रमाण है कि वह सम्पन्न हैं और उन्हें अब उपयोगी विषयों की आवश्यकता नहीं रही। जिसके सामने जीवन का प्रश्न इतना चिन्ताजनक नहीं है, वह क्यों न प्रेम और विलास की कथाएँ पढ़कर मन बहलाये। यह देश-

कर कि हिन्दुस्तानियों को गम्भीर विषयों से अधिक रुचि है, यह कहा जा सकता है कि हमारी रुचि अब प्रौढ़ हो रही है। लेकिन हिन्दी के प्रकाशकों से पूछा जाय, तो शायद वे कुछ और ही कहें। हिन्दी में गम्भीर साहित्य की पुस्तकें बहुत कम बिकती हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि जिन्हें गम्भीर साहित्य से प्रेम है, वे अंग्रेजी पुस्तकें खरीदते हैं। कथा-कहानियाँ कुछ ज्यादा बिक जाती हैं शायद इसलिए कि भारतीय जीवन का चित्रण हमें अंग्रेजी पुस्तकों में नहीं मिलता, नहीं शायद कोई हमारे हिन्दी उपन्यास और कहानियों को भी न पूछता। एक कारण यह भी हो सकता है कि उपन्यास और कहानियों के लिए किसी विशेष योग्यता की जरूरत नहीं समझी जाती। जिसके हाथ में कलम है वही उपन्यास लिख सकता है। लेकिन दर्शन या अर्थशास्त्र या ऐतिहासिक विवेचन पर कलम उठाने के लिए विद्वत्ता चाहिए। और जो लोग विद्वान हैं, वे अंग्रेजी में लिखना ज्यादा पसन्द करते हैं, क्योंकि अंग्रेजी का क्षेत्र विस्तृत है। वहां यश भी अधिक मिलता है और धन भी।

प्रेम-विषयक गल्पों से अरुचि

जनता की साहित्यिक रुचि के विषय में पुस्तकविक्रेताओं से अच्छी जान-कारी शायद ही किसी को होती हो। और लोग अनुमानमात्र लगाते हैं, पुस्तकविक्रेता को इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अभी थोड़े दिन हुए एक समाचारपत्र ने कई बड़े-बड़े पुस्तकविक्रेताओं से पूछा था कि आजकल आप लोगों के यहाँ किस विषय की पुस्तकों की ज्यादा माँग है। इसका पुस्तकविक्रेताओं ने जो उत्तर दिया, उसका सारांश यों है :

'जहाँ तक पुस्तकों की बिक्री का सम्बन्ध है, कथा-साहित्य बड़ी आसानी से प्रथम स्थान ले लेता है। कहानियों के संग्रह, उपन्यास, नाटक और कई विख्यात लेखकों के निबन्ध—ये सब इसी श्रेणी में आ जाते हैं। लेकिन प्रेम-विषयक और शृङ्गारपूर्ण रचनाओं की अब उतनी माँग नहीं रही, जितनी कई साल पहले थी। क्या इसका मतलब यह है कि प्रेम-कथाओं और कामोत्तेजक विषयों में लोगों की दिलचस्पी कम होती जा रही है ? नहीं। प्रेम और काम सम्बन्धी साहित्य में लोगों की रुचि बढ़ रही है। हाँ, अब जनता को केवल भावुकता और विह्वलता से सन्तोष नहीं होता, प्रेम और विवाह आदि का वह वास्तविक और तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, और इस तरह के साहित्य की माँग बढ़ रही है। उपन्यासों में भी 'सेक्स' सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा केवल विरह और मिलन तक नहीं रहती, दाम्पत्य और विवाह पर एक नवीन और विचार-पूर्ण ढंग से विचार किया जाने लगा है। प्रेम की मधुर कल्पनाओं से हटकर जन-रुचि विवाह और घर और नर-नारी के

असली जीवन की ओर अधिक झुका हुआ है। जनता केवल कविता नहीं चाहती, गम्भीर-विचार और वैज्ञानिक प्रकाश चाहती है। विनोद-पूर्ण साहित्य और रोमांचकारी जासूसी कहानियों की ओर जनता का प्रेम ज्यों का-त्यों बना हुआ है। पी० जी० वुडहाउस और थार्न स्मिथ की हास्य कथाओं का बहुत अच्छा प्रचार है। आम तौर पर जो यह ख्याल है कि ऊँची श्रेणी के लोगों में घासलेटी साहित्य और रक्त और हत्या से भरी हुई कथाओं का विशेष प्रचार है—कम-से-कम हिन्दुस्तान में उसकी पुष्टि नहीं होती।'

साहित्य में ऊंचे विचार की आवश्यकता

रूस में हाल में साहित्यकारों में एक बड़े मजे की बहस छिड़ी थी। विषय था—साहित्य का उद्देश्य क्या है? लोग अपनी अपनी गा रहे थे। कोई कहता था—साहित्य सत्य की खोज का नाम है। कोई साहित्य को सुन्दर की खोज कहता था। कोई कहता था—वह जीवन की आलोचना है। कोई उसे जीवन का चित्रण मात्र बतलाता था। आखिर जब यह झगड़ा न तय हुआ तो सलाह हुई कि किसी गँवार से पूछा जाय कि वह साहित्य को क्या समझता है। आखिर यह जत्था मजदूर की खोज में निकला। दूर न जाना पड़ा। चन्द ही कदम पर एक मजदूर कन्धे पर फावड़ा रखे, पसीने में तर आता हुआ दिखाई दिया। एक साहित्य महारथी ने उससे पूछा—क्यों भाई तुम साहित्य किस लिए पढ़ते हो? मजदूर ने उन विद्वज्जनों की ओर विस्मय दृष्टि से देखा। ऐसी मोटी-सी बात भी इन लोगों को नहीं मालूम। देखने में तो सभी पढ़े-लिखे से लगते हैं। समझा, शायद यह लोग उसका मजाक उड़ा रहे हैं। बिना कुछ जवाब दिये आगे बढ़ा। तुरन्त फिर वही प्रश्न हुआ—क्यों भाई, तुम साहित्य किस लिए पढ़ते हो?

मजदूर ने अबकी कुछ जवाब देना आवश्यक समझा। कहीं यह लोग उसकी परीक्षा न ले रहे हों। तैयार छात्र की भांति तत्परता से बोला—जीवन की सच्ची विधि जानने के लिए। इस उत्तर ने विवाद को समाप्त कर दिया। साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर आने

वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या। जीवन की आलोचना कीजिए चाहे चित्र खींचिए, आर्ट के लिए लिखिए चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए—अगर उससे हमें जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता, तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है, न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।

रूसी साहित्य और हिन्दी

उपन्यास और गल्प के क्षेत्र में, जो गद्य-साहित्य के मुख्य अंग हैं, समस्त संसार ने रूस का लोहा मान लिया है, और फ्रान्स के सिवा और कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है, जो इस विषय में रूस का मुकाबला कर सके। फ्रान्स में बालज़ाक, अनातोल फ्रान्स, रोमा रोलाँ, मोपासाँ आदि संसार प्रसिद्ध नाम हैं, तो रूस में टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, चेखाव, डास्टावेस्की आदि भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, और संसार के किसी भी साहित्य में इतने उज्ज्वल नक्षत्रों का समूह मुश्किल से मिलेगा। एक समय था कि हिन्दी में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। हिन्दी और उर्दू दोनों ही रेनाल्ड की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने को धन्य समझ रहे थे। डिकेंस, थैकरे, लैम्ब, रस्किन आदि को किसी ने पूछा तक नहीं। पर अब जनता की रुचि बदल गई, और यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो चोरी, ज़िना और डाके आदि के वृत्तान्तों में आनन्द पाते हैं लेकिन साहित्य की रुचि में कुछ परिष्कार अवश्य हुआ है और रूसी साहित्य से लोगों को कुछ रुचि हो गई है। आज चेखाव की कहानियाँ पत्रों में बड़े आदर से स्थान पाती हैं और कई बड़े-बड़े रूसी उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है। टालस्टाय का तो शायद कोई बड़ा उपन्यास ऐसा नहीं रहा, जिसका अनुवाद न हो गया हो। गोर्की की कम से कम दो पुस्तकों का अनुवाद निकल चुका है। तुर्गनेव के Father & Son का 'पिता और पुत्र' के नाम से अभी हाल में दिल्ली से अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टालस्टाय की 'अन्ना' का अनुवाद काशी

से प्रकाशित हुआ है। डास्टावेस्की की एक पुस्तक का अनुवाद निकल चुका है। इस बीच में अंग्रेजी या फ्रेंच साहित्य की कदाचित् एक भी पुस्तक का अनुवाद नहीं हुआ। जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया, जिस पर चलकर आज वह दुखी संसार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएँ क्यों न आदर पायें!

शिरोरेखा क्यों हटनी चाहिए?

नागरी लिपि समिति ने जितने उत्साह और तत्परता के साथ अपनी
जिम्मेदारियों को पूरा करना शुरू किया है, उससे आशा है
निकट भविष्य में ही शायद हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर लें। …
की बात है, कि समिति के प्रस्तावों और आदेशों का उतना वि…
हुआ, जितनी कि शंका थी। राष्ट्रीय एकीकरण हमें इतना प्रिय
है कि उसके लिए हमसे जो कोई भी माकूल बात कही जाय, उसे
के लिए हम तैयार हैं। शिरोरेखा के प्रश्न को भी समिति ने
खूबसूरती से हल किया है, उसे प्रायः स्वीकार कर लिया गया है।
रेखा नागरी अक्षरों का कोई आवश्यक अंग नहीं। जिन ब्राह्मी
से नागरी का विकास हुआ है, उन्हीं से बंगला, तामिल, गुजराती
का भी विकास हुआ है; मगर शिरोरेखा नागरी के सिवा और
लिपि में नहीं। हम बचपन से शिरोरेखा के आदी हो गये।
हमारी कलम जबर्दस्ती, अनिवार्य रूप से ऊपर की लकीर खींच देत…
लेकिन अभ्यास से यह कलम काबू में की जा सकती है। इसमें तो
सन्देह नहीं कि शिरोरेखा का परित्याग करके हम अपने लेखन की
बहुत तेज कर सकेंगे और उसकी मन्द गति की शिकायत बहुत
मिट जायगी और छपाई में तो कहीं ज्यादा सहूलियत हो जायगी।
यह बात कि बिना शिरोरेखा के अक्षर भुंडे और सिर-कटे से …
तो यह केवल भावुकता है। जब आँखें बेरेखा के अक्षरों की आ…
जायँगी, तो वही अक्षर सुन्दर लगेंगे और हमें आश्चर्य होगा कि
इतनी सदियों तक क्यों अपनी लिपि के सिर पर इतना बड़ा भार
बोझ लादे रखा।